



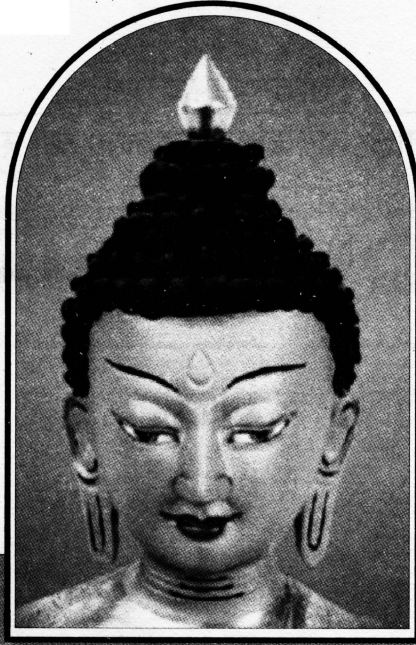
श्री चन्द्रप्रभ

The

विपश्यना



स्वयं से साक्षात्कार का दिव्य मार्ग



बुद्धत्व का कमल खिले

सौजन्य-संविभाग

श्री मोतीलाल-चंद्रकला सकलेचा की स्मृति में
वीरेन्द्र सकलेचा
तिलक नगर, इंदौर

The विपश्यना

स्वयं से साक्षात्कार का दिव्य मार्ग

श्री चन्द्रप्रभ

द विपश्यना
श्री चन्द्रप्रभ

संपादक
श्रीमती लता भंडारी 'मीरा'

प्रकाशन-वर्ष : जनवरी, 2013

प्रकाशक : श्री जितयशा फाउंडेशन
बी-7, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई. रोड, जयपुर (राज.)

अशीष : गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर जी म.

मुद्रक : बबलू ऑफसेट, जोधपुर

मूल्य : 40/-

प्रवेश

भगवान बुद्ध ने जीवन के सत्य को समझने के उपरान्त मध्यम मार्ग की स्थापना की। उन्होंने जितना उग्र तप किया शायद ही किसी अन्य ने उतना शरीर को सुखा देने वाला तप किया हो। लेकिन इतनी तपस्या करके भी उन्होंने जाना कि वे उस सत्य से साक्षात्कार नहीं कर सके हैं, जिसके लिए उन्होंने राजमहल और सांसारिक वैभव का त्याग किया था। सूखकर काँटा हो चुके अशक्त शरीर वाले सिद्धार्थ ने जैसे ही उग्र तप का आलम्बन छोड़ा, उन्होंने तन-मन की शांति में वह पा लिया, जिसकी खोज में वे निकले थे। उनके भीतर बुद्धत्व का कमल खिल गया, बुद्धत्व के प्रकाश से उनका तन-मन भीग गया।

पूज्य श्री चन्द्रप्रभजी ने उस सत्य के साक्षात्कार से नज़रें मिलाई हैं और बुद्धत्व के कमल का अपने भीतर आनन्द लिया है। वे उस आनन्द को साधकों के साथ बाँटते हैं। संबोधि-साधना-शिविर में साधकों से मुखतिब होते हुए उन्होंने भगवान बुद्ध की विशिष्ट साधना-पद्धति 'विपश्यना' पर कुछ आध्यात्मिक संवाद किए हैं। ये संवाद प्रस्तुत पुस्तक में बहुत ही आत्मीय ढंग से व्यक्त किए गए हैं। इनमें अवगाहन करते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो हम उस शिविर के ही एक अंग हैं। एक-एक शब्द अनुभव से निःसृत होता हुआ हमारे भीतर उतरता है। इन संवादों को पाकर आप निश्चय ही धन्य और आनंद-विभोर हो उठेंगे।

ये संवाद संबोधि-धाम की पहाड़ी पर बने नयनाभिराम 'संबोधि-सभागार' में हुए हैं। पूज्यश्री का मंतव्य है जैसे पहाड़ पृथ्वी के धरातल से ऊपर होते हैं, ठीक उसी तरह संसार से ऊपर उठकर आत्मोन्नति में रत साधक-साधिकाओं को दिया गया मार्गदर्शन भी उन्हें ऊँचाइयों पर ले जाता है। वे कहते हैं आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा जन-समुदाय के मध्य नहीं, अपितु चुनिंदा लोगों के मध्य ही हो सकती है और ज्ञान-चर्चा जब अध्यात्म स्तर पर हो, तब वह किसी सरोवर के तट पर या पहाड़ी के शिखर पर अथवा किसी मधुर चाँदनी की रात में की जाए तो उसका आनन्द अनेरा और अद्भुत होता है। भगवान बुद्ध ने भी ऐसी ही किन्हीं स्थितियों में समय-समय पर अपने शिष्यों से संवाद किए थे। पूज्यश्री ने भी हमारे साथ ऐसी ही रसभीनी मीठी-मधुर ज्ञान-चर्चा की है।

'विपश्यना' ध्यान की विशिष्ट विधि है, जिसका अनुशीलन कर साधकों ने स्वयं के सत्य से साक्षात्कार किया है, जीवन के दुःख-दौर्मनस्य का विनाश किया है और महापरिनिर्वाण को उपलब्ध हुए हैं। श्री चन्द्रप्रभ कहते हैं; विपश्यना पर की गई चर्चा से वे स्वयं भी पुलकित, आनंदित और सत्य के रस से अभिभूत हैं। तभी तो वे इसमें डूब-डूबकर हमें भी डुबोते हैं और भीतर के विकारों तथा द्वन्द्वों से उतारते हैं।

गुरुदेव कहते हैं हमें स्वयं को तपस्वी और घर को तपोवन बना लेना चाहिए। उनकी सदा यह प्रेरणा रहती है कि आपको कहीं जाने की ज़रूरत नहीं है। आप जहाँ हैं, जैसे हैं, वहीं शांति व मौन का आचरण कर लें, स्वयं की अनुपश्यना करने लगें, दिव्य प्रकाश की किरण धीरे-धीरे स्वतः भीतर उतरने लगेगी। अपने हृदय में हम प्रेम और शांति का बीज अंकुरित होने दें, हमें सारी सृष्टि शान्त और प्रेममय दिखाई देगी। वे कहते हैं तन को नहीं मन को तपाने की ज़रूरत है। यह प्रज्ञा बनी रहे कि भीतर की शांति और निर्मलता ही मेरे ध्यान का लक्ष्य है। गुरुदेव ने पुनः-पुनः बहुत ही बारीकी से विपश्यना/अनुपश्यना के सम्बन्ध में समझाया है। उसमें आई शब्दावली का इस तरह विवेचन किया है कि एक-एक बात गहराई से भीतर उतरती जाती है। विश्व में प्रचलित विभिन्न साधना-पद्धतियों का उल्लेख करते हुए वे बताते हैं कि अन्ततः तो स्वयं की विपश्यना करके ही, स्वयं की मनःस्थिति को जानकर ही, स्वयं की देह एवं मन की स्थितियों को समझकर ही, उनके प्रति सचेतन और जाग्रत होकर ही उनसे

निवृत्त हो सकते हैं और उस सत्य का अनुभव कर सकते हैं जिसके लिए हम सब छटपटाते हैं।

आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में बहुत कहा गया है, लेकिन अनुभवजन्य कथन और पांडित्यपूर्ण कथन में भेद है। पूज्यश्री के मुख से सुनकर ऐसा लगता है कि वे नहीं, उनके अनुभव जिह्वा का अनुगमन कर रहे हैं। जब वे श्वास और भीतर की सच्चाई के बारे में बात करते हैं तो पूरी तरह उसमें डूब जाते हैं, अनुपश्यना का अनुभव उनको दिव्य गरिमा प्रदान करता है। वे चाहते हैं कि प्रत्येक साधक ऐसे अनुभवों से गुज़रकर अपने जीवन को अध्यात्ममय बनाए। यह आध्यात्मिकता उसे अन्तरमन की शांति एवं आनन्द के सरोवर से परिपूरित कर देगी। वे कहते हैं धर्म चर्चा का नहीं, जीने का आधार है और इसके लिए अनुपश्यना एक बेहतर और स्वर्णिम मार्ग है।

पूज्यश्री ने भगवान बुद्ध के 'महासतिपट्टान-सुत्त' का खूबसूरत विश्लेषण कर उसे सहज-सरल भाषा में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। श्री चन्द्रप्रभ की विशेषता उनकी संवादमय शैली है, जो छोटी-छोटी कहानियों, उदाहरणों से बोधगम्य हो जाती है। पूज्यश्री झेन कहानी हो या बुद्ध-महावीर के जीवन की घटना अथवा जीसस और मुहम्मद साहब के जीवन से जुड़ी घटना, सहजता से उद्धृत कर संवादों को सीधे हमारे हृदय में उतार देते हैं। सचमुच, ये प्रवचन हमारे लिए मील के पत्थर और प्रकाशमयी दीप-शिखा का काम करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में साधक को किन-किन बातों की सावधानी रखनी चाहिए और साधना की गहराई में कैसे उतरा जाए इसका सही-सुन्दर मार्गदर्शन है। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक विचार अपने-आप में विलक्षण और अद्भुत है। हम पुस्तक के हर शब्द के साथ लहरों की तरह बहते जाएँ, अपने-आप हमारी जीवन-नौका पार लगती जाएगी।

अब हम सीधे रूबरू हो जाते हैं जीवन की उन बातों से जिन्हें हम जानते तो हैं, पर पहचानते नहीं। जिनके बारे में सुना-पढ़ा तो है, पर अवगाहन नहीं किया। विपश्यना पर इतनी सुन्दर पुस्तक पाकर आप सचमुच मुग्ध हो उठेंगे।

प्रभुश्री के चरणों में अहोभाव भरे प्रणाम !

- मीरा



अनुक्रमणिका

1. स्वयं के प्रति जगाएँ होश और बोध	9
2. पंचशील : आखिर आवश्यक क्यों ?	23
3. विपश्यना : आखिर क्या है ?	35
4. विपश्यना में चाहिए सचेतनता, निरन्तरता	47
5. आनापान-योग : समाधि का प्रवेश-द्वार	57
6. चलते-फिरते कैसे करें अनुपश्यना	70
7. आसक्तियों को कैसे काटें	82
8. वासना के चक्रव्यूह से कैसे निकलें	96
9. विपश्यना से पाएँ विलक्षण फल	107
10. कैसे करें चित्त की अनुपश्यना	124
11. अन्तर्द्वन्द्व से मुक्ति	140



1

स्वयं के प्रति जगाएँ होश और बोध

साधना का मार्ग शांति का मार्ग है। यह होश और बोधपूर्वक जीने का मार्ग है, राग-द्वेष और दुःख-दौर्मनस्य से मुक्ति पाने का मार्ग है। हम पूरे उत्साह और ऊर्जा के साथ इस मार्ग पर अपने क़दम बढ़ा रहे हैं। बुद्ध ने साधना की एक खास दृष्टि दी है। बुद्ध अद्भुत हुए - आसमान में उगे सूरज की तरह, मानसरोवर में खिले कमल की तरह, अँधेरे में जलते दीपक की तरह।

मैं बुद्ध का प्रशंसक हूँ। मुझ पर बुद्ध का प्रभाव रहा है। उनका मध्यम मार्ग जीवन जीने का व्यावहारिक और वैज्ञानिक मार्ग है। भोग और योग में, कामना और साधना में सन्तुलन बिठाने का काम मध्यम मार्ग करता है। आज की तारीख में, जब इंसान ईश्वर और नैतिकता में तो विश्वास रखता है, पर अपना निजी जीवन पूरे सुख-साधन से जीना चाहता है। ऐसी स्थिति में दोनों के बीच सन्तुलन बिठाने का काम मध्यम मार्ग करता है। मध्यम मार्ग कोई सिद्धान्त नहीं है, यह एक विज्ञान है, जीवन जीने का तरीका है, शांति और सहजता का

पथ है। अतिवाद का त्याग करना ही मध्यम मार्ग है। मैं स्वयं मध्यम मार्ग को जीता हूँ।

जीवन वीणा के तारों की तरह है। इन्हें न तो ज़्यादा कसो, न ज़्यादा ढीला छोड़ो। इन्हें सन्तुलन के सिद्धान्त से साधो। जीवन को वीणा के तारों की तरह इस तरह साधा जाए कि जीवन का हर लम्हा हमें संगीत का सुकून दे, शांति का तराना छेड़े, आनंद के गीत सरसाए।

हम हिंसा का त्याग करें, झूठ और चोरी के पाप से बचें, व्यसन और व्यभिचार से स्वयं को दूषित न होने दें। हम शांति के अनुयायी हों, सत्य, अहिंसा और भाईचारे को प्राथमिकता दें, पवित्रता और मुस्कान हमारी पहचान हो। हम स्वयं को लाफिंग बुद्धा बनाएँ, हँसता-मुस्कुराता बुद्ध। होश और बोधपूर्वक जीने वाला संबुद्ध पुरुष।

विपश्यना एक दिव्य पथ है- स्वयं के सत्य से साक्षात्कार करने का पथ। हमारे लिए ज़रूरी है कि हम अपनी मूर्च्छाओं को समझें, मूर्च्छाओं के जाल से बाहर निकलें, जीवन की हकीकतों से परिचित हों और फिर अपना सहज-सचेतन जीवन जिएँ। मैं संबोधि में विश्वास रखता हूँ। संबोधि यानी होश और बोधपूर्वक जीवन जीने की दृष्टि।

एक महात्मा ने एक सत्संगी युवक को समझाया- 'दुनिया में केवल भगवान ही अपना है, बाकी कोई किसी का नहीं है। माता-पिता की सेवा और पत्नी-बच्चों का पालन कर्तव्य समझकर करें, न कि उनमें मूर्च्छित या आसक्त होकर।'

युवक ने कहा- 'मगर भगवन् ! मेरे माता-पिता मुझसे इतना प्यार करते हैं कि एक दिन घर न जाऊँ, तो उनकी भूख-प्यास मर जाती है, नींद उड़ जाती है और मेरी बीवी तो मेरे बगैर ज़िन्दा ही नहीं रह सकती।'

महात्मा ने युवक को परीक्षा करने का तरीका समझाया। तदनुसार युवक घर जाकर पलंग पर चुपचाप लेट गया। प्राणायाम के द्वारा साँसों को मस्तक में चढ़ाकर वह निश्चेष्ट हो गया। घरवालों ने उसे मरा समझकर रोना-धोना शुरू कर दिया। आस-पड़ोस के लोग और परिजन इकट्ठे हो गए।

उसी समय महात्माजी आ पहुँचे। उन्होंने कहा- 'मैं इसे ज़िन्दा कर सकता हूँ। एक कटोरा पानी लाओ।'

घर के लोग महात्माजी के कदमों में लोटने लगे। महात्माजी ने पानी के कटोरे में कुछ मन्त्र पढ़ा और युवक के ऊपर तीन बार घुमाकर कहने लगे, इस पानी को कोई पी जाए। पीने वाला तो मर जाएगा, पर यह युवक ज़िन्दा हो जाएगा।

यह सुनते ही सब हक्के-बक्के रह गए। अब मरे कौन ? सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। सबने बहाने बनाने शुरू कर दिए। माता-पिता ने कहा- 'हमारे कोई एक बच्चा तो है नहीं, जो इसके लिए मरें।' पत्नी ने कहा- 'मरने वाले के पीछे कोई मरा तो नहीं जाता।' आखिर महात्माजी ने कहा - 'तो फिर मैं पी लूँ यह पानी ?'

सब घरवाले एक स्वर से बोल उठे- 'आप धन्य हैं प्रभु ! आपका तो जीवन ही परोपकार के लिए है। आप कृपा करें। आप तो मुक्त-पुरुष हैं। आपके लिए जीवन-मरण सब समान हैं।'

युवक को अब कुछ देखना-सुनना नहीं था। उसने प्राणायाम पूरा किया और बैठते हुए बोला- 'भगवन् ! अब आपको यह पानी पीने की ज़रूरत नहीं है। आपने मुझे इस पानी के ज़रिये जीवन का सच्चा बोध प्रदान कर दिया, संबुद्ध जीवन का बोध।'

युवक ने जीवन जीना सीख लिया। क्या हम अपने जीवन के सत्य से रूबरू होना चाहेंगे ?

अतीत में बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों ने कभी किसी चैत्य-विहार में, कहीं किसी अशोक वृक्ष की छाया में, चम्पा की चहकती-महकती कलियों के बीच बैठकर भिक्षुओं एवं मुनियों के साथ आत्म-संवाद किए होंगे। उन्होंने साधकों एवं मुमुक्षुओं को अपने आध्यात्मिक ज्ञान से प्रकाशित किया होगा। आज वे महापुरुष हमारे बीच सशरीर नहीं हैं, लेकिन उन्हें प्रेम और दिव्यभाव से याद करने पर वे हमारे हृदय में साकार होने लगते हैं। यदि हम अपने मन-मन्दिर में महावीर को याद करेंगे तो उनकी सूरत और मूरत उभरकर आने लगेगी, वहीं यदि बुद्ध को याद करेंगे तो बुद्धत्व का बोध, बुद्धत्व का कमल खिलने लगेगा। ध्यान में उतरकर आकाश को याद करने से, उस पर ध्यान करने से अन्तरमन में आकाश, आकाश के बादल, उसकी नीलिमा, वहाँ के सूरज, चाँद-सितारे, धीरे-धीरे सब हमारे अन्तरमन में साकार होने लगते हैं।

आज जब हम बुद्ध के ज्ञान-प्रकाश में बैठकर आत्म-चिन्तन और मनन करने के लिए स्वयं को तत्पर कर रहे हैं तो निश्चय ही हमारे भीतर ऐसा कोई कमल, ऐसी कोई प्रकाश-रेखा वैसे ही साकार होने लग सकती है, जैसे फूलों के स्मरण से फूल, दुश्मन की याद से दुश्मन और मित्र की स्मृति से मित्र की छवि साकार होती है। भले ही देवताओं के स्मरण से वे हमारे समक्ष प्रगट न होते हों, लेकिन स्मरण से उनकी दैवीय छवि हमारे भीतर अवश्य साकार होने लगती है।

हम आतापी, स्मृतिमान और सचेतन बनें। आतापी यानी तपस्वी। आत्मा की स्मृति में, दिव्यता की स्मृति में निमग्न रहने वाला आतापी है, तपस्वी है। यहाँ तप का सम्बन्ध भूखे रहने से नहीं है। तप का सम्बन्ध वीणा के तारों की तरह तन-मन-आत्मा को साधने से है।

हम सभी तपस्वी बनें। ऐसे तपस्वी जो अपने-आप के पास हों। ऐसे तपस्वी जो साधना में श्रमशील हों, जिनकी इन्द्रियाँ उनके अपने वश में आ चुकी हों। हमारे भीतर संकल्प और विकल्पों के रूप में, विकार और संवेदनाओं के रूप में, संस्कार और प्रकृति के रूप में जो कर्म के बीज बोए जा चुके हैं और नित्य-प्रति बोते रहते हैं, क्रियाओं के रूप में बोए जाने वाले बीज तो हैं ही, पर मन-ही-मन विचार और विकल्प, हिंसा-प्रतिहिंसा, वैर-विरोध, राग-द्वेष के जो कर्म बीज बोते हैं, उन सबको हम धुनने में, उखाड़ने में, काटने में तत्पर हों।

हममें से हर व्यक्ति स्वयं को तपस्वी और घर को तपोवन बना ले। हमारे सामने जीवन का लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए कि हम जीवन में भवचक्र से निवृत्ति चाहते हैं या भवचक्र में प्रवृत्ति चाहते हैं। जो संसार में प्रवृत्ति चाहते हैं, उनके लिए सामान्य स्तर की बातें हुआ करती हैं, पर जो संसार से ऊपर उठकर बोध और ज्ञानपूर्वक प्रकाश-पथ के अनुयायी होना चाहते हैं, अमृत-पुत्र की तरह जीना और स्वयं को अमृत बनाना चाहते हैं, उन्हें शांत-चित्त और आत्मभाव से खुद को तपाना चाहिए। बिना स्वयं को तपाये, बिना इन्द्रियों को वश में किए कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक पथ पर प्रगति नहीं कर सकता।

स्वयं का जितेन्द्रिय होना बुद्धत्व की अनिवार्य शर्त है। जो लोग धर्म-अध्यात्म पर कोरी चर्चा करते रहते हैं, मैं उन्हें कह देना चाहता हूँ कि धर्म और अध्यात्म की चर्चा करना, धार्मिक पुस्तकों का पठन-पाठन करना, प्रवचन देना या प्रवचन सुनना बिल्कुल अलग चीजें हैं, पर उस धर्म और अध्यात्म को जीने

के लिए स्वयं को तत्पर करना ज्ञान की सच्ची कसौटी है। यह एक श्रेष्ठ तप है। हमारे लिए स्वयं को तपस्वी बनाना जरूरी है। जो साधना-मार्ग पर चल रहा है, वह तपस्वी है। हम अपने मन को, अपनी इन्द्रियों एवं अपनी काया को संयमित करने के लिए प्रयत्नशील हों। मेरा तो सुझाव है कि जैसे पहाड़ और पर्वत सामान्य ज़मीन से ऊपर होते हैं, जैसे कमल के फूल सरोवर के सामान्य जल से ऊपर हुआ करते हैं, वैसे ही साधकों को कमल के फूल की तरह अपनी अन्तरात्मा में जीना चाहिए अनासक्त योगी की तरह। अनासक्त योगी का धरती पर जीना धरती का सौभाग्य है, लेकिन भोगी और रोगी का जीना धरती के लिए भार और बोझ बन जाता है। बुद्धत्व के बोध और महावीर के महामौन के मार्ग पर चलने के लिए अन्तरमन का तपस्वी होना पहली अनिवार्यता है।

यहाँ जो बुद्ध के मार्ग से चलते हैं, वे बोध पाते हैं। जो महावीर के मार्ग पर चलते हैं, वे मोक्ष पाते हैं, पर जो ययाति के रास्ते चलते हैं, वे भोग के चक्रव्यूह में उलझ जाते हैं, वे बंधन पाते हैं। वे लोकचक्र में अटक जाते हैं। बुद्ध और महावीर इनका मार्ग तो होश और बोधपूर्वक जीने का मार्ग है। यह मुक्ति और महापरिनिर्वाण का मार्ग है। दुःख-दौर्मनस्य और वैर-वैमनस्य से छुटकारा पाने का मार्ग है। इसके लिए हमें मुक्ति का लक्ष्य निर्धारित करना होगा, स्मृतिमान होना होगा, आतापी और तपस्वी होना होगा।

अतीत में भी जिन्होंने स्वयं को तपस्वी बनाया वे उपलब्ध हो सके। महावीर महातपस्वी बने। स्थूल दृष्टि से देखने पर तो हम यही जान सकते हैं कि वे कितने दिन भूखे रहे और कितने दिन खाना खाया, लेकिन ऐसा करने पर हम केवल महावीर की काया को उपलब्ध हो सकते हैं। काया के अन्दर छिपे कायनात को छू भी न पाएँगे। महावीर के अनुयायी गर्व के साथ उल्लेख करते हैं कि महावीर ने अपने साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में केवल साढ़े तीन सौ दिन खाना खाया, शेष दिनों में वे भूखे रहे। यह तो हठयोगियों की साधना हो गई और उनके अनुयायी भी अगर इसी बात को प्राथमिकता देते हैं तो वे भी महावीर के कलेवर पर ही ध्यान दे रहे हैं। इस तप के अन्दर छिपे एक सच्चे तपस्वी को वे भूल रहे हैं। आप यह न समझें कि भोजन से आध्यात्मिक तप का कोई विशेष सम्बन्ध है। भोजन करते हुए भी परम आध्यात्मिकता को उपलब्ध हुआ जा सकता है। महावीर साधारण गृहस्थ की भाँति नहीं हैं, वे विशिष्ट ज्ञानी हैं, आत्म-ज्ञानी हैं। वे केवल काया को तपाने में विश्वास नहीं रखते। वे अपने मन

और इन्द्रियों को तपाने, सँवारने, सुधारने, अपने अंकुश में लाने का प्रयत्न करते हैं। इस क्रिया में दैहिक तप अपने-आप फलीभूत हो जाता है।

हमारा अन्तरमन किसी कोयले की तरह है। कोयला न पानी से धुलता है, न साबुन से। कोयले को उज्ज्वल करना है तो कोयले को जलाना होगा। कोयला जलकर ही सफेद होता है। दैहिक तप कोयले को जलाने की तरह है। वास्तव में तो हमें मन को निर्मल और उज्ज्वल बनाना होता है। मन को 'शांत मनस्' और आनन्दपूर्ण दशा में ले जाना होगा।

रूप, रस, गंध, स्पर्श के बहाने हमारी इन्द्रियाँ बार-बार बाह्य सुख साधनों के प्रति आकर्षित होती हैं, बन्दर की तरह मचलती हैं, साँप के फन की तरह फैलती रहती हैं। इन अविजित इन्द्रियों और मन को जीतने में, इन्हें धोने और धुनने में जिसने अथक प्रयत्न किया, उस पुरुषार्थ का नाम ही वास्तव में महावीर है। हमारा मन कर्मबीजों का निर्माण करता रहता है। ऐसा नहीं है कि हमने केवल अतीत में कर्मों के बीज बोए हैं और न ही केवल क्रियाओं के द्वारा कर्मबीज बोते हैं, अपितु मन के विकारों, अहंकारों, वासनाओं और मन के अज्ञान द्वारा कर्म के बीज अधिक बोए जाते हैं। मन की सोच, विकल्प, चित्त के संस्कारों द्वारा हम कर्म के बीज अधिक बोते रहते हैं। किसी गाँठ को बाँधने में एक पल लगता है, लेकिन उसे खोलने में लम्बा अर्सा गुज़र जाता है। घाव करने में क्षणभर लगता है, पर घाव भरने में लम्बा समय व्यतीत हो जाता है। मन के ये कर्मबीज कभी हम राग और कभी द्वेष के रूप में, कभी दुःख, दौर्मनस्य और कभी रोग, शोक, चिन्ता, क्रोध के रूप में बोया करते हैं। इन बीजों को धोना और धुनना ही आध्यात्मिक तपस्या है।

महापुरुषों ने, बुद्ध और महावीर ने भी स्वयं को तपस्वी बनाया, स्वयं को भीतर ही भीतर तपाया। पहले उन्होंने खुद को तन से भी तपाया। लेकिन जैसे-जैसे तन को तपाया उन्हें समझ आती गई कि तन को तपाने की ज़रूरत नहीं है, मन के भीतर समाए सूक्ष्म मन की जड़ों को तपाने और काटने की ज़रूरत है। इस समझ के आते ही उन्होंने काया को तपाना कम कर दिया और माना कि तपस्या के लिए काया प्रवेश-द्वार की तरह है। शेष तो अपने मन, चित्त और आत्मा को तपाना ही सच्ची तपस्या है। आज से हम एक विशिष्ट मार्ग की ओर अपने क़दम बढ़ा रहे हैं। यह मार्ग है विपश्यना का। यह होश और बोधपूर्वक जीने का मार्ग है। यह वह पवित्र मार्ग है, जो व्यक्ति को स्वयं से,

स्वयं के परम सत्य से साक्षात्कार करवाता है। इस मार्ग में किसी प्रकार का आरोपण नहीं है, बल्कि अपनी ही प्रकृति से गहराईपूर्वक मुलाकात करने का तरीका है।

सम्भव है विभिन्न साधना पद्धतियों में ईश्वर, स्वर्ग-नर्क, आत्मा जैसी चीजों का बार-बार उल्लेख होता हो लेकिन विपश्यना ऐसा मार्ग है, जिसमें किसी प्रकार का आरोपण नहीं है। कहीं कोई अतिरिक्त चीज़ समाविष्ट नहीं है। विपश्यना अर्थात् खुद से खुद की प्रकृति की मुलाकात। अपने में जो है, उससे मुलाकात करो, जो है उसका साक्षी होना, जो है उसका मात्र ज्ञान कर लेना, जो है उसका मात्र दर्शन कर लेना, जो है उसका ही तपस्वी होना, जो है उसके प्रति प्रज्ञाशील होना, जो है उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति करना ही विपश्यना है। प्रज्ञाशील होने का अर्थ है जो हमें अनुभूति में आ रहा है, उसके प्रति पूर्ण जागरूक और सचेतन होना।

जगत में ढेरों साधना पद्धतियाँ हैं। कुण्डलिनी और षट्-चक्र जागरण के नाम से एक गहरी साधना पद्धति भारत ने दुनिया को दी है, लेकिन कुण्डलिनी और षट्-चक्र व्यक्ति को प्रत्यक्ष अनुभूति में नहीं आते वरन् साधना की गहराई में जाते-जाते कभी किसी का इनसे सम्पर्क जुड़ता होगा, इनकी ऊर्जा उपलब्ध होती होगी। मैं मानता हूँ कि अदृश्य पर जाने से पहले व्यक्ति को दृश्य पर गौर करना चाहिए। मंदिर में प्रभु-मूर्ति देखने से पहले मंदिर के बाहर बैठे भिखारियों में भी प्रभु को देखने का नजरिया प्राप्त कर लेना चाहिए। जब तक कोई अपनी माँ, पत्नी, भाई, बहन, पिता से प्रेम नहीं कर पाया तो हम कैसे जानें कि वह पड़ोसी से मोहब्बत कर पाएगा। जब घर के लोगों को ही प्यार न कर सके तो दूसरों को क्या प्यार करोगे। जो तुम्हें दिखाई देता है, उसका ही साक्षात्कार न कर पाए, ठीक ढंग से उसकी अनुभूति न कर पाए, उसका सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन न कर पाए तो उस अदृश्य का जो सिद्ध-बुद्ध-मुक्त है, दर्शन कैसे कर पाएँगे, कैसे साक्षात्कार कर पाएँगे ?

सम्भव है आप वर्षों से प्रभु की भक्ति कर रहे होंगे, लेकिन क्या बता सकते हैं कि प्रभुजी कितनी बार मिले ? क्या प्राप्त किया ? अपने सत्य को कितना समझा ? जो अदृश्य है उसके प्रति तो हम आस्थावान हो गए लेकिन जो दृश्य है- हमारी काया- इसे हमने कितना समझा ? इसके विकारों को समझने के लिए कितना समय दिया ? अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए

कितना बोध और कितनी जागरूकता कायम की ? यूँ तो हम घंटों तक प्रभु-भक्ति कर लेते हैं, पर क्या स्वयं को जानने और समझने के लिए प्रतिदिन दस मिनट का समय भी निकाल पाए हैं ? जो स्वयं को नहीं समझ पाया, वह औरों को क्या समझ पाएगा ? जिसने स्वयं को नहीं जाना, स्वयं को वश में नहीं किया, वह दूसरों को कैसे वश में करेगा ?

एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि 'उनका मन उनके वश में नहीं रहता, वह क्या करे ?' मैंने कहा- 'अभी मैं व्यस्त हूँ, आप एक घंटा रुकें, तब मैं आपको जवाब दे सकूँगा।' थोड़ी देर बाद अचानक मैंने उनसे प्रश्न किया, 'आपकी पत्नी तो आपके वश में होगी ?' वे बोले, 'अरे कहाँ, अगर वही वश में होती तो परेशानी का कोई सबब न होता।'।

मैंने कहा, 'कोई बात नहीं, बेटा तो आपके वश में होगा ?'

वे बोले, 'कहाँ साहब, वह तो अपनी मनमानी करता है।'

मैंने फिर पूछा, 'आपका परिवार तो ज़रूर ही आपके वश में होगा ?'

उन्होंने बताया, 'कोई भी उनके वश में नहीं है।'

मैंने समझाया, 'आप दूसरों को वश में करना चाहते हैं और मुझसे पूछते हो - मन मेरा वश में नहीं है क्या करूँ ? जब आप स्वयं को ही वश में न कर पाए तो दूसरों को कैसे वश में करोगे।'

सभी को अपने मन से दिक्कत है। सभी कहते मिल जाएँगे कि मन बिगड़ल है, विकृत हो जाता है, क्रोध कर लेता है, कभी भी काम-भोग-वासना की तरंगें पैदा हो जाती हैं। जो इन्सान अपने भीतर से पागल है, विक्षिप्त है, घायल है, वह इस मन को सँवारने के लिए, सुधारने के लिए वक्त नहीं देता है। कहते ज़रूर हैं कि मन को वश में करना चाहते हैं, पर इसके लिए शांति की साधना नहीं करते, अन्तरमन की विपश्यना और अन्तरमन से साक्षात्कार नहीं करते। अन्तरमन से साक्षात्कार करना सबसे बड़ा तप है।

जब कोई तप के मार्ग पर चल पड़ता है, तब उसकी भक्ति भी तपने लगती है। साधना भी तपने लग जाती है, ज्ञान भी तपने लगता है। शेष तो पुस्तकों को पढ़कर ज्ञानी नहीं हो सकते। अनुभव से ही ज्ञान प्रकट होता है। किताबें पढ़कर बुद्धिमान हो सकते हैं, सूचनाएँ एकत्रित कर सकते हैं, बुद्धि के विकास के रास्ते खुल सकते हैं, लेकिन सम्यक् ज्ञान के, सम्यक् प्रज्ञा के मालिक नहीं हो सकते। प्रज्ञा की परिपक्वता के लिए ज़िंदगी में लगने वाली ठोकड़ों से

सीखना होता है, बार-बार चिंतन-मनन करना होता है, अपनी प्रज्ञा को वस्तु, व्यक्ति और विचार के प्रति जागरूक और सचेतन करना पड़ता है, तब कहीं हमारा ज्ञान पकता है, परिपक्व होता है। ध्यान पकने और पकाने की चीज़ है। काया, मन और इन्द्रियाँ तपने और तपाने की चीज़ें हैं।

तन-मन की आन्तरिक स्थिति विकारों, उपद्रवों और भोगजनित संस्कारों तथा कषायों से घिरी हुई है। छोटे-छोटे निमित्त हमें क्रोधित कर देते हैं, चिंतित और विकृत कर देते हैं। कहने के नाम पर अपन सब शांत और निर्मल दिखाई देते हैं, पर यह सब तभी तक है, जब तक निमित्त न आए। गुस्सा मानो नाक पर ही चढ़ा बैठा है। किसी की छोटी-सी उपेक्षा बर्दाश्त नहीं कर पाते। लाखों का घाटा लग जाने पर उसे क्या बर्दाश्त करेंगे, घर से बाहर गया बेटा अगर एक घंटा लोट आए, तो हम बेचैन हो जाते हैं, आर्त-ध्यान, रौद्र-ध्यान करने लग जाते हैं, हमारी शांति तो गिरवी रखी हुई है। 'विपश्यना' एक दिव्य साधना है- तन को साधने की साधना, मन को साधने की साधना। स्वयं के सत्य से साक्षात्कार करने की साधना। विपश्यना यानी देखना - स्वयं को देखना, स्वयं की साँसों को देखना, शरीर, शरीर के अंग, शरीर की संवेदनाओं को देखना, शरीर की परिवर्तनशीलता और नश्वरता को देखना, अन्तरमन की स्थिति, प्रकृति और विकृतियों को देखना। सबको आतापी बनकर, स्मृतिमान बनकर, सचेतन होकर, प्रज्ञापूर्वक, बोधपूर्वक देखना। स्वयं के सत्य से साक्षात्कार करने का यही तरीका है - पहले स्थूल, फिर सूक्ष्म। पहले भीतर की अशांतियों को देखना, भीतर की उथल-पुथल को शांत करना और फिर स्वयं की शांति में प्रवेश करना।

जब हम विपश्यना को समझ रहे हैं, तो अपने-आप को तमाम आरोपणों से मुक्त कर लें। अतीत के समस्त संस्कारों से स्वयं को मुक्त कर लें। पंथ, परम्परा, सम्प्रदाय, गुरु उन सबसे अपने-आपको मुक्त कर लें, केवल एक ही बोध रहे कि अब मैं खुद को जानने के लिए तत्पर हो रहा हूँ। मैं जैसा भी हूँ, जो भी हूँ, बस स्वयं को जानना है। हमारी आदत स्वयं को अच्छा प्रस्तुत करने की होती है। भीतर से भले ही वह खोटा हो, लेकिन खरे के रूप में पेश करना चाहते हैं। बाहर का फोटो खिंचवाओगे तो क्लर्ड आएगा, पर भीतर का एक्स-रे कराओगे तो ब्लैक एण्ड व्हाइट आएगा। हम जो भीतर से ब्लैक एण्ड व्हाइट हैं, विपश्यना और अनुपश्यना द्वारा उसे जानना है।

‘विपश्यना’ बुद्ध का शब्द है और ‘अनुपश्यना’ महावीर का शब्द है। दोनों में कोई फ़र्क नहीं है। ज्यों-ज्यों हम गहराई में जाएँगे, इन शब्दों के अर्थ समझेंगे। हम जो स्वयं को बाहर से पॉलिशड रूप में प्रस्तुत करते हैं, जरा भीतर से स्वयं को दिगम्बर कर डालें। भीतर से अपने-आपको खोलकर खुली डायरी बना लें कि यह ‘मैं’ हूँ। जो तुम थे, उसे भूल जाओ, क्या होओगे भूल जाओ। जो ‘हो’ उस बोध को भीतर जोड़ने का प्रयत्न करो। दुनिया में खरे-खोटे दोनों सिक्के चलते हैं। एक महिला अपने पति पर चिल्ला रही थी कि दुनिया बहुत खोटी हो गई है। वह कह रही थी कि उसने दस रुपए की सब्जी खरीदी और सब्जीवाला अठन्नी खोटी देकर चला गया। पति ने कहा — भागवान, क्यों इतना चिल्ला रही है, दे गया तो दे गया। वह अठन्नी मुझे दे दे मैं तुझे बदलकर दे देता हूँ। पत्नी ने कहा — कहाँ से दे दूँ, जब सारी दुनिया ही ऐसी हो गई है तो जो सुबह दूधवाला आया था, उसे मैंने चला दी।

यहाँ सभी खोटा दे जाने पर गालियाँ निकालते हैं और खुद के पास जो खोटापन है वह दूसरों को आगे चलाते हैं। यहाँ सभी एक-दूसरे को चलाने में, बेवकूफ़ बनाने में मशगूल हैं। किसी समय ‘बनाने’ का अर्थ निर्माण, सृजन हुआ करता था लेकिन अब ‘बनाने’ का अर्थ मूर्ख या बेवकूफ़ बनाना है।

कभी मैंने एक कहानी पढ़ी थी — कोई संत सब्जी बेचने का कार्य करते थे। उन्हें कम दिखाई देता था। लोग आते सब्जियाँ खरीदते और कुछ सिक्के खरे और कुछ खोटे सिक्के दे जाते। संत सिक्के देखते, पहचान जाते, पर कुछ बोलते नहीं। खोटे सिक्के अपने पास रख लेते और सब्जियाँ दे देते। इसी तरह उनकी जिंदगी गुज़र गई। उनके पास ढेर सारे खोटे सिक्के इकट्ठे हो गए। एक दिन संत को अहसास हुआ कि जितना उसे जीना था, जी लिया, अब उसे प्रभु के मार्ग पर जाना चाहिए। वह प्रभु की भक्ति में लीन होना चाहता था। अपनी झोपड़ी में पहुँचकर उसने सारे खोटे सिक्के इकट्ठे कर लिए और संध्याकाल में एक दरी पर बिछा दिए। घुटने टेककर वह अपने प्रभु को याद करने लगा, उसकी भक्ति में डूबने लगा। वह अपनी प्रार्थना में यही गुनगुना रहा था— प्रभु मेरी उम्र अब पूरी हो चुकी है, मेरे पास जीने के लिए समय नहीं है, अब तो तेरे पास आने का ही वक्त बचा है। मैं जानता हूँ कि जीवन में मैंने बहुत धर्म नहीं किया है कि मैं तेरे पास आने का हकदार बनूँ। मुझे मालूम है कि मैं एक खोटा सिक्का हूँ, पर भगवन् ! मैं तुम्हारे पास आ रहा हूँ। इस आशा के साथ कि तुम

खोटे सिक्के को लौटाओगे नहीं, क्योंकि जीवन-भर लोगों ने मुझे हज़ारों खोटे सिक्के दिए हैं, पर मैंने किसी भी खोटे सिक्के को लेने से इन्कार नहीं किया है। मैं भी एक खोटा सिक्का हूँ और आपके श्री चरणों में समर्पित हो रहा हूँ। कृपा करके आप भी मुझे अस्वीकार न करें।

मुझे यह कहानी प्रिय है। मैं मानता हूँ कि हम सभी खोटे सिक्कों की तरह हैं। प्रभु तो करुणावतार हैं, कृपासिंधु हैं। वे अपने विरुद को अवश्य निभाएँगे।

मुझे स्वयं के खोटेपन का अहसास है। खरा सिक्का बनने की कोशिश करते हैं, फिर भी अनेक दफ़ा खोटा सिक्का साबित हो जाते हैं। मुझे मालूम है मेरे पास भी अनेक लोग खोटे सिक्कों की तरह आते हैं, मैं उन्हें इन्कार नहीं करता। खरे सिक्के बाजार में चलते हैं और खोटे सिक्के मन्दिर के गुल्लक में। खोटे सिक्कों पर ट्रस्टी भी नज़र नहीं डालते, वे मन्दिर के गुल्लक की शोभा बढ़ाते रहते हैं।

विपश्यना यानी स्वयं को पहचानने का एक तरीका कि हम खोटे सिक्के हैं। हालांकि हमें न चाहते हुए भी यह विश्वास हो जाता है कि मैं खरा सिक्का, मैं सत्यवादी। हम सभी स्वयं को महान मानते रहते हैं। दूसरों से तो अपेक्षा रखते हैं कि वे झूठ न बोलें, किन्तु स्वयं कितना झूठ बोलते हैं, पता ही नहीं चलता। स्वयं की स्थिति तो तलहटी पर भी नज़र नहीं आएगी, शिखर और पहाड़ की बात तो बहुत दूर है। जो जागे सो पावे। जो प्रज्ञाशील है, जो स्वयं के प्रति, अपने अध्यात्म के प्रति हकीकत में सचेतन होता है, वही अपने कर्म के बीजों को धो सकता है। बातों से नहीं, करने से कर्म कटते हैं। हम अतीत में बोए गए कर्म-बीजों को काटने के प्रति जागरूक नहीं होते। कभी किसी तिथि का उपवास कर लेते हैं, कभी प्रतिक्रमण के सूत्रों को दोहरा लेते हैं, कभी किसी मन्दिर में मत्था टेक आते हैं। इससे अधिक और क्या कर लेते हैं हम लोग। अधिक से अधिक थोड़ा बहुत दान कर लेते होंगे।

हमारे भीतर राग-द्वेष की जो अन्तरधाराएँ हैं, जो उसके संस्कार हमारे भीतर व्याप्त रहते हैं, उन्हें काटने के लिए कितना प्रयत्न करते हैं? हम जो कथित धार्मिक कहलाते हैं, हमको एक पल लगता है गुस्सा आने में, एक पल लगता है तमतमाने में। बाहर से ठंडे-ठंडे दिखाई देते हैं, पर एक पल लगता है गरम होने में। हम एक पल में माचिस की तीली बन बैठते हैं और सुलग जाते हैं। हम खुद को पहचानें। हम किसकी विपश्यना और अनुपश्यना कर रहे हैं?

हमारे भीतर जो विकार और विक्षिप्तताएँ भरी हुई हैं क्या हम उनकी विपश्यना कर रहे हैं ? भीतर के तत्त्व तक कोई नहीं उतर रहा है, सब कुछ बाहर-बाहर। धर्म भी बाहर, भीतर का धर्म बचा ही नहीं है।

कुछ दिन पहले, ऊपर स्वर्ग में, बैकुंठ और सिद्धशिला पर सारे भगवान- रामजी, कृष्णजी, महावीरजी, बुद्धजी, जीससजी- सारे 'जी', सारे महान लोगों ने ऊपर बैठक की कि हम लोग जब तक जिए दुनिया ने हमारी कद्र नहीं की। किसी के कानों में कील ठोकी गई, किसी को सूली पर चढ़ाया गया, किसी को ज़हर दिया गया, किसी को वनवास झेलना पड़ा- जब तक धरती पर रहे कोई इज्जत नहीं थी और अब तो सारी दुनिया अपनी ख़ूब पूजा करती है। करोड़ों जैन हैं, हिन्दू हैं, मुसलमान हैं और ईसाई हैं — अपने नाम पर ढेरों मंदिर हैं, मस्जिद हैं, चर्च हैं, अपनी बहुत पूछ-परख है। जब तक वे सशरीर थे और जिए, तब पता नहीं कितनों ने पूछा और कितनों ने लताड़ा, लेकिन अब तो उनके नाम पर लाखों के चढ़ावे बोले जाते हैं। मंदिर निर्मित होते हैं, मंदिरों की प्रतिष्ठाएँ होती हैं, ध्वजारोहण होता है, लाखों लोग उनके नाम की मालाएँ जपते हैं। ऐसा विचार कर सारे भगवान अपने-अपने अनुयाइयों के बीच पहुँचे। रामजी अपने अनुयाइयों के बीच आए। उन्होंने देखा कि अमुक नगर में जोरदार प्रतिष्ठा हो रही है, हैलीकॉप्टर से फूल बरसाए जा रहे हैं, लोग उनकी पत्थर की मूर्ति को बिठाने के लिए पाँच करोड़ रुपए का चढ़ावा ले रहे हैं और मंदिर के शिखर पर एक कपड़े की ध्वजा चढ़ाने के लिए सवा करोड़ रुपए का चढ़ावा बोल रहे हैं। रामजी तो खुश हो गए कि उनकी तो जबर्दस्त पूछ हो गई। जीते जी इतनी पूछ न थी। जीते जी तो गालियाँ ही मिलती हैं। अगर जीसस सलीब पर न टंगे होते तो क्या इतने विश्वविख्यात हो सकते थे ? महावीर के कानों में कीलें न ठुकते और उन्होंने इतनी समता और सहनशीलता न दिखलाई होती तो क्या वे आज इस तरह पूजे जाते ?

भगवान राम ऊपर से नीचे आए और भीड़ में शामिल हो गए। राम और महावीर साथ ही आए थे। जैसे ही किसी ने उनको देखा लोग चिल्लाए- आ भई, बहुरूपिया आ। इसे भी एक रुपया दे दो। लोगों को वह बहुरूपिया नज़र आया, उन्हें लगा कि उसने बहुत अच्छा स्वांग रचाया है। महावीरजी को देखकर तो लोगों की हालत ही खराब हो गई, वे तो दिगम्बर हैं। उन्हें देखकर लोग लाठियाँ भाँजने लगे कि यह क्या तरीका है, मंगल कार्य में यह अमंगल

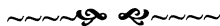
आदमी कहाँ से आ गया। यह कौन पागल है। महावीर स्वामी घबराए। उन्होंने कहा- इतनी पूजा करके, इतने मंत्र बोलकर, रातभर मेरा आह्वान कर रहे हो, इतनी पूजा-आरती की है, तो मैं ऊपर से प्रगट होकर आया हूँ। लोगों ने कहा- ओह, यह केवल निर्वस्त्र ही नहीं, बल्कि दिमाग से भी ढीला है। महावीरजी सोचने लगे कि मैं क्या सोचकर आया था और यहाँ के लोग कैसे निकल गए। तब उन्होंने कहा- तुम लोग मुझे नहीं पहचानते, लेकिन वह जो भीतर प्रतिष्ठा करवा रहा है, चन्द्रप्रभ, उसे पकड़कर ले आओ। वह मुझे पहचान जाएगा, लोग कहते हैं, वह ध्यान वगैरह करता है। लोग मेरे पास दौड़कर आए और बताया कि एक आधा पागल-सा आदमी इस तरह की बातें कर रहा है।

मैं बाहर आया, उनकी सेवा में प्रस्तुत हुआ, दूर से उनका दिव्य आभामंडल दिखाई दिया, मैं उनको पहचान गया कि प्रभु आज बड़ी कृपा की है कि इस आँगन में पधारे हैं। मैंने उनके पास जाकर कहा- पधारिए, बड़ी कृपा हुई। वे बोले- क्या कृपा हुई, ये मेरे सारे अनुयायी तो कुछ और ही बातें कर रहे हैं। मैंने कहा- आप मेरे साथ आइए। मैं उन्हें कमरे में ले गया और कहा- प्रभुजी, इस दुनिया का यही सत्य है कि जब महापुरुष जीवन्त होते हैं, तब कोई आपको सलीब पर चढ़ाता है, कोई ज़हर का प्याला देता है, कोई कानों में कीलें ठोकता है और आज जब आप स्वयं को प्रगट करके ले आएँगे तो आज भी आपके साथ वही हालात, वही व्यवहार होने वाले हैं। यह दुनिया सच्चे सत्य को पूजने वाली नहीं है। यह बाह्य सत्य को ही पूजती है। आपने मुझे दर्शन दिए, मैं आपकी दिव्य कृपा से कृतज्ञ हुआ, पर आप कृपा करके पुनः ऊपर पधार जाएँ और अपना दिव्य स्थान ग्रहण कर लें।

विपश्यना, अनुपश्यना अर्थात् अपने-आपको लगातार विशेष रूप से देखना। हमने जिन सत्यों को अपने मन पर ओढ़ रखा है, उन्हें दरकिनार करना होगा और उस सत्य से रूबरू होना होगा, जो वास्तविक रूप से हमारी अनुभूति में अभी इसी क्षण आ सकता है। उस सत्य से मुलाकात करेंगे, उस सत्य के नज़दीक जाएँगे। साधना का मार्ग सत्य का मार्ग है, स्वयं के चीन्हने का, स्वयं को जानने और पहचानने का मार्ग है। दूसरों से बहुत मिल चुके, अब खुद से मिलना है। दूसरों का दर्शन खूब कर लिया, अब खुद का दर्शन करना है। भले या बुरे जैसे भी हैं, स्वयं से मुलाकात करेंगे। हमने उस पहाड़ की ओर कदम बढ़ाने का साहस किया है, जो साधारण ज़मीन से ऊपर है। अब हम स्वयं को

खोलकर देखेंगे कि मैं भीतर से कौन हूँ, मैं क्या हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है, मेरी चेतना कहाँ उलझी हुई है, मेरे कौनसे विकार हैं, मेरी कौनसी कमजोरियाँ हैं, मेरी क्या विशेषताएँ हैं- धीरे-धीरे हम अपने को खोलकर अपनी आत्मकथा पढ़ेंगे। विपश्यना इसमें हमारी मदद करेगी।

आज के लिए इतना ही; नमस्कार।



2

पंचशील : आखिर आवश्यक क्यों ?

हम लोग ऐसे मार्ग पर चल रहे हैं, जहाँ बुद्धत्व का कमल और संबोधि का प्रकाश है। वह मार्ग जहाँ सुन्दर उपवन और रास्ते हैं। इस मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए महापुरुषों का ज्योतिर्मय सान्निध्य भी है। यह विपश्यना का मार्ग है। विपश्यना का अर्थ है- सत्य को, अपने-आपको, अपनी प्रकृति को भली-भाँति विशेष रूप से पूरी जागरूकता के साथ देखना, पहचानना और जानना। कोई भी अगर सत्य के रास्ते पर क़दम बढ़ाता है, तब सत्य को इस बात से कोई सरोकार नहीं होता कि वह स्त्रीलिंग है या पुल्लिंग, उच्च कुल का है या मध्यम अथवा सामान्य कुल का है। विपश्यना का मार्ग सबके लिए खुला है। चाहे वह बालवय का हो या युवा अथवा वृद्ध हो। सत्य के इस मार्ग पर चलने वाले का सम्बन्ध केवल इस बात से है कि उसकी इसके प्रति कितनी श्रद्धा है, प्यास है और इसे कितना अंगीकार करने को तैयार है।

विपश्यना का मार्ग विशुद्ध रूप से साधना का मार्ग है। स्वयं को जानने

का, संसार में होश और बोधपूर्वक जीवन जीने का मार्ग है। यह मार्ग जीवन में किसी भी प्रकार का विरोधाभास खड़ा नहीं करता। यह व्यक्ति को समाज से विमुख नहीं करता। कार्य और व्यापार से भी दूर नहीं ले जाता। यह तो प्रत्येक कार्य को जागरूकतापूर्वक करने की प्रेरणा देता है। आज जब हम साधना के पथ पर क़दम बढ़ाने को तत्पर हो रहे हैं तो हमें इसकी पूर्व भूमिका अवश्य जान लेनी चाहिए क्योंकि क़दम आगे बढ़ाने के लिए मजबूत धरातल की आवश्यकता होती है अन्यथा वह आगे के अज्ञात रास्तों पर चलने में असमर्थ रहेगा। व्यक्ति के विचार, वचन और व्यवहार के साथ पहले से ही मर्यादाएँ, अंकुश, संयम लागू हो जाना चाहिए। इसी के लिए महावीर ने व्रत की प्रेरणा दी, बुद्ध ने शील की और पतंजलि ने यम की।

व्रत, शील और यम कहने को तो अलग-अलग शब्द हैं, पर तीनों के बीच में कहीं कोई विरोध या दूरी नहीं है। महावीर ने पाँच व्रत दिए, वही पाँच व्रत लगभग मिलते-जुलते बुद्ध ने पंचशील के रूप में कहे। वही पंचशील थोड़े परिवर्तन के साथ पतंजलि ने यम के रूप में प्रतिपादित किए। पतंजलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के नाम से योग के आठ अंग या चरण दिए। याद रखिए जब हम किसी महापुरुष की अमृतवाणी पर चिन्तन करते हैं, तब महापुरुषों के नाम बदल सकते हैं, उनके शब्द बदल सकते हैं, अभिव्यक्ति की शैली अलग हो सकती है, पर सत्य में कोई परिवर्तन नहीं आता है। सत्य सदा सभी प्राणियों के लिए एक-सा रहता है। जैसे- सूरज सबको अपनी रोशनी देता है, चाँद सबको अपनी शीतलता प्रदान करता है, हवा सभी को सुकून देती है, आग सभी की रोटियाँ पकाया करती है, ठीक ऐसे ही महापुरुषों का सत्य और अमृतवाणी सार्वभौम कल्याणकारी है, हितकारी और मंगलकारी है। वह अतीत में भी कल्याणकारी थी, आज भी है और भविष्य में भी रहेगी।

अगर हम महावीर के सूत्रों पर चिन्तन करते हैं तो यह न समझें कि हमने बुद्ध को छोड़ दिया है। बुद्ध पर चिन्तन-मनन करते समय महावीर को दरकिनार नहीं करते। सत्य तो यह है कि सारे भेद ऊपर-ऊपर के हैं। मिट्टी के दीये भले ही अलग हों, पर सभी दीयों की ज्योति तो एक ही होती है। इसलिए महापुरुषों की वाणी एक ही सत्य को प्रतिपादित करती है। जब हम ज्ञान के पथ पर आगे बढ़ रहे हैं तो जीवन में पंचव्रत या पंचशील या पंचयमों का पालन

अवश्य होना चाहिए। शील जीवन की आवश्यकता है, व्रत है, धर्म है, मर्यादा है। शील वह मार्ग है, जहाँ सारी पगडंडियाँ आकर मिल जाती हैं। इसलिए शील सभी व्रतों का व्रत है, सभी आश्रमों का आश्रम है, समस्त मंत्रों का मंत्र है। सभी धर्मों का धर्म है। शील अर्थात् सदाचार। शील अर्थात् जीवन को पवित्रता और मर्यादा के साथ जीने का संकल्प। शील जीवन की सुगन्ध है, शील जीवन की ज्योति है।

दिन में सूरज और रात में चाँद चमकता है, लेकिन शील वह चमक है, जो दिन में भी विद्यमान रहती है और रात के घुप्प अंधकार में भी शील और व्रत की ज्योति बरकरार रहती है। हमने न जाने कितनी प्रकार की सुगन्धों का अनुभव किया है। अलग-अलग दिशा से आने वाली हवा विभिन्न प्रकार की सुगन्ध लेकर आती है, लेकिन शील वह सुगन्ध है, जो हर दिशा से आने वाली हवा के साथ हमें महकाती है।

कहते हैं : भगवान श्री बुद्ध के परम शिष्य, बुद्धत्व के प्रकाश को उपलब्ध, अरिहंत के तुल्य महाकाश्यप मुनि को आहार देने के लिए स्वयं इन्द्राणी पहुँची। जब उन्होंने आहार देना चाहा तो महाकाश्यप उन्हें पहचान गए और भोजन लेने से यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि वे देव-प्रदत्त आहार स्वीकार नहीं करते। इन्द्राणी ने देवेन्द्र से सब बात कही तो देवेन्द्र के मन में आया कि अगर वह नहीं दे पाई तो क्या हुआ, वे स्वयं जाकर आहार देंगे। यह सोचकर देवेन्द्र नीचे आते हैं और एक गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हैं। अपना रूप भी गृहस्थ का बना लेते हैं। जब वह गृहस्थ महाकाश्यप को आहार देने लगते हैं, तब देवेन्द्र भी अपने साथ लाया हुआ अत्यन्त सुगन्धित और उत्तम कोटि का आहार महाकाश्यप के पात्र में समर्पित कर देते हैं। महाकाश्यप ने देखा कि वे तो साधारण से गृहस्थ के घर आए थे। यह उत्तम कोटि का आहार किसने डाला। दिव्य दृष्टि से उन्होंने पहचाना कि उन्हें उत्तम आहार देने वाला स्वयं देवेन्द्र है। महाकाश्यप ने कहा- वत्स, यह तुमने अच्छा नहीं किया। अब पात्र में भोजन आ गया है, तो इसे स्वीकार करना ही होगा।

मुनि उस आहार को लेकर भगवान बुद्ध के पास पहुँचे और कहा- भगवान्, आज मुझे इन्द्र ने आहार प्रदान किया है। मेरे द्वारा इन्द्राणी को मना किए जाने के बाद स्वयं देवेन्द्र आए। आज यह उचित नहीं हुआ। भगवान ने कहा- महाकाश्यप देवेन्द्र ने आहार देकर अत्यधिक पुण्य का अर्जन किया है।

महाकाश्यप ने कहा- 'लेकिन प्रभु, आप ही तो कहते हैं देवों द्वारा प्रदत्त आहार नहीं लेना चाहिए और आज आप ही कह रहे हैं कि उसे अत्यन्त पुण्य अर्जन हुआ है, ऐसा क्यों?'

देवेन्द्र ने जो किया उसकी प्रतिक्रिया में बुद्ध ने कहा- महाकाश्यप यह सब इसलिए हुआ क्योंकि तुम्हारे शील की, पंचशील-पालन की सुगन्ध देवलोक तक पहुँच चुकी है, इसलिए देवेन्द्र स्वयं तुम्हें आहार प्रदान करने आए। देवेन्द्र के भावों की निर्मलता और तुम्हारे पंचशील की सुगन्ध ने उसे प्रभावित किया। अतः यह आहार स्वीकार्य है।

हम सभी जो साधना के मार्ग पर चल पड़े हैं, हमारे लिए ज़रूरी है कि हम पंचशील या पंचव्रतों के पालन का पूर्ण होश और बोध बनाए रखें। अगर हमने ऐसा न किया तो हो सकता है कि विपश्यना का पवित्र मार्ग जो हमें हमारे सत्य से मुलाकात करवाएगा, हमारी अपनी प्रकृति से परिचित करवाएगा, जो हमें बताएगा कि हमारे भीतर विक्षिप्तताएँ हैं या एकाग्रताएँ हैं, यह मार्ग जो हमें चित्त के संस्कारों से मिलवाएगा, उस समय विचित्र तरंगों का अनुभव हो, दूषित संस्कारों का उदय हो, तब सम्भव है हम विचलित हो जाएँ और तब हम विपश्यना, अनुपश्यना या संबोधि साधना के मार्ग से स्वयं को अलग कर लें। इसलिए ज़रूरी है कि नींव के रूप में हमारे साथ शील-सम्बन्ध जुड़ जाना चाहिए। याद कीजिए उस राजकुमार को जिसके जीवन में प्रबल वैराग्य उदित हुआ। आप सोच सकते हैं कि जिस राजकुमार के मन में वैराग्य भाव आए, उसने कितना अधिक त्याग किया होगा। धर्म के प्रति उसके भीतर अत्यधिक श्रद्धा जगी होगी, तब कहीं कोई राजकुमार दीक्षा लेने की सोच सकता है।

राजकुमार ने संन्यास ले लिया, लेकिन हजारों संन्यासी थे। उसे जहाँ रहने को जगह मिल पाई, वहाँ पहले से ही सैकड़ों संन्यासी थे। नया संत था, तो बिल्कुल दरवाजे के पास सोने की जगह मिली। दूसरे संतों का आना-जाना जारी था। कोई लघुशंका के लिए जा रहा था, कोई रात्रि में साधना करने बाहर जा रहा था। इस तरह आते-जाते संतों की ठोकर से, पदचाप से वह परेशान हो गया, रातभर ठीक से सो न सका और सोचने लगा सुबह उठते ही वापस अपने राजमहल चला जाऊँगा। वह विचलित हो गया कि पहली रात में इतना कुछ झेलना पड़ रहा है तो जीवनभर न जाने कितना कुछ झेलना पड़ेगा। सुबह उठकर जैसे ही वह जाने को उद्यत हुआ, तभी उसके गुरु भगवान महावीर ने उससे

कहा- 'वत्स, क्या बात है, एक ही रात में इतना विचलित हो गए।' वह चौंका कि इन्हें कैसे पता चला। महावीर ने कहा- 'वत्स, अपने उस अतीत को याद करो, जहाँ तुम एक हाथी थे। जंगल में भयानक आग लग गई थी। तुमने सारे वनचरों को बचाने के लिए एक खास स्थान के पेड़-पौधे उखाड़ दिए थे ताकि जंगल के प्राणी वहाँ आकर अपनी रक्षा कर सकें। तुम भी वहाँ थे। अचानक तुम्हें खुजली हुई और तुमने एक पाँव ऊपर उठाया और तभी एक खरगोश उस स्थान पर आकर बैठ गया। तुम्हें लगा अहो, मैंने सारे प्राणियों के कल्याण के लिए उनके प्रति करुणा और दया से प्रेरित होकर सबको जगह दी, फिर क्यों न इस खरगोश को भी आश्रय मिल जाए। यह सोचकर तुमने पाँव ऊपर ही रखा। तीन दिन-तीन रात तक जंगल जलता रहा। जैसे-तैसे आग शांत हुई जंगल के प्राणी वापस जंगल में चले गए। तीन दिन ऊपर रहने के कारण पाँव अकड़ गया। जैसे ही तुमने पाँव नीचे रखा, तुम गिर पड़े और मृत्यु को प्राप्त हुए। लेकिन उस करुणा के प्रभाव से तुम राजकुल में उत्पन्न हुए। उस समय जानवर के रूप में तुमने इतनी पीड़ा सहन कर ली और आज तुम संत होकर इतनी भी पीड़ा बर्दाश्त न कर पाए।'।

तब उस संत राजकुमार ने महावीर की वाणी से उद्बोधित होकर पुनः संकल्प लिया कि अब चाहे जैसी स्थितियाँ क्यों न उत्पन्न हो जाएँ, मैं अपने साधना मार्ग से विचलित नहीं होऊँगा। ये महान राजकुमार थे 'मेघ'।

यब सब कहने का तात्पर्य यह है कि हम अपने जीवन में सबसे पहले शीलों का पालन करना सीखें। साधना का धरातल पक्का बन जाना चाहिए, ताकि साधना के दौरान आने वाली बाधाओं से विचलित न हो सकें। एक साधक को, एक आतापी तपस्वी को कई तरह के शील और व्रतों का पालन करना होता है, क्योंकि जब तक हम अपने जीवन को व्रत-नियमों के अंकुश में नहीं डालेंगे, तब तक हमारा तन और मन उच्छृंखल साँड की तरह इधर-उधर भटकता रहेगा। जो स्वयं को निर्वाण और मोक्ष की ओर, निर्विकार दशा की ओर ले जाना चाहता है, स्वयं को इन्द्रियों के विषयों से, इन्द्रियों के गुणधर्मों से मुक्त करके कर्मबीजों को काटने में तत्पर हो रहा है, उसे कई तरह के शील, व्रत, नियम-उपनियमों के अंकुश के अन्तर्गत रहना होगा। साधकों को सुरक्षित रूप से साधना मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए इन्हें अपना ही होगा। स्मरण रखें, अगर आप बीस दिन मौन रखकर साधना कर रहे हैं, लेकिन इक्कीसवें दिन

अगर दो मिनट का भी क्रोध कर लिया तो आपकी सारी साधना व्यर्थ हो गई। जिसने महावीर की समिति-गुप्ति को, बुद्ध के शील को समझ लिया, उसे जीवन में उतार लिया तो विश्वास करते हैं कि जीवन में प्रतिकूलताओं के आने पर वह विचलित नहीं होगा, क्योंकि प्रतिकूलताएँ तो आती ही हैं, हानियों का सामना करना ही पड़ेगा, यहाँ कोई भी दुत्कार सकता है। इसलिए शीलों का पालन हो।

पहला शील है — हिंसा का त्याग। मन, वचन और काया के द्वारा न तो द्रव्य हिंसा हो और न ही भाव हिंसा अर्थात् मन के संकल्प-विकल्प द्वारा किसी की हत्या नहीं करूँगा, किसी का बुरा नहीं चाहूँगा। ऐसी वाणी बोलने से परहेज रखेंगे, जिससे दूसरों को ठेस पहुँचती हो। कर्कश और कटु वाणी का उपयोग नहीं करेंगे। किसी की निन्दा-आलोचना में रस नहीं लेंगे।

किसी गुरु के पास एक व्यक्ति पहुँचा और उसने पूछा — प्रभु, आत्मशुद्धि का क्या मार्ग है? आत्मसिद्धि और आत्मज्ञान प्राप्त करने का मार्ग बताएँ। तब गुरु ने केवल इतना ही कहा — अंधा बन, बहरा बन, गूँगा बन, लंगड़ा बन, यहाँ से जा, बस इतना-सा ही मार्ग है। वह व्यक्ति चौंका, यह कैसा मार्ग हुआ। वह गुरु के भी गुरु के पास पहुँचा और सब बात कही। महागुरु ने कहा— मेरे शिष्य ने तुम्हें साधना का सही और सटीक मार्ग समझा दिया है। मैंने जो ज्ञान उसे दिया था, उसने चार शब्दों में पिरो लिया है। एक तरह से उसने इन्हें जीवन का शील बना लिया है। युवक को समझ में नहीं आया, तो महागुरु ने कहा— अंधा बन अर्थात् दूसरों के दोषों को मत देख, पराई स्त्री पर गलत नज़र मत डाल। बहरा बन अर्थात् दूसरों की निन्दा और आलोचना मत सुन, उसमें रस मत ले और स्वयं की प्रशंसा सुनने की आदत जीवन से हटा दे। दूसरों की निन्दा और आलोचना सुनने से तुम्हारा मन दूषित होगा और प्रशंसा सुनने से अहंकार बढ़ेगा, अतः बहरा बन। जबान से गूँगा बन अर्थात् असत्य मत बोल, जिह्वा से कर्कश वाणी का उपयोग मत कर। लंगड़ा बन अर्थात् गलत जगह पर मत जा, किसी मदिरालय या वेश्यालय जैसे गलत स्थान पर जाने से बच।

कोई मुझसे शील को जीने का सार पूछे तो मैं यही कहूँगा— अंधा बन, बहरा बन, गूँगा बन और लंगड़ा बन। इस वाक्य में दुनियाभर के शास्त्रों का सार और नवनीत समा गया है। ज़्यादा जानने और पढ़ने की ज़रूरत ही नहीं है। बस

इन शब्दों को अपने हृदय में बसा लें और आचरण में उतार लें। इन चार शब्दों में चार वेद, चार आश्रम और संयम की चार दिशाएँ छिपी हैं।

बुद्ध पहला शील कहते हैं हिंसा का त्याग करें। मन के द्वारा बुरे संकल्प-विकल्प करने से परहेज रखें। वाणी को संयमित ढंग से बोलने की कोशिश करें। जो बात तैश में आकर बोलते हैं, हम कोशिश करें कि उसी बात को प्रेमपूर्वक, शांतिपूर्वक कह सकें। तब हमारे जीवन से क्रोध और हिंसा का सफाया हो सकेगा। मन, वचन और काया के द्वारा हिंसा का त्याग। अगर हम हिंसा के त्याग का विवेक रखेंगे तो वैर-विरोध के त्याग का भी संकल्प रख सकेंगे। अन्यथा हिंसा ही नहीं छूटी तो वैर-विरोध कहाँ से छूट सकेगा। कहने को दुनिया में लाखों लोग अहिंसा में विश्वास रखते होंगे पर लाखों में शायद एकाध ही ऐसा होता होगा, जो वैर-विरोध न रखता हो। वैर-विरोध रखना ही सबसे बड़ी हिंसा है और वैर-विरोध का त्याग करना ही सबसे बड़ी अहिंसा है। धम्मपद में बुद्ध का यह प्रसिद्ध वचन है- न हि वैरेण वैराणि सम्मंति ध कुदाचन, अवैरेण च सम्मंति, एस धम्मो सनंतनों। बुद्ध कहते हैं- वैर से कभी वैर शांत नहीं होता, अवैर से, प्रेम और क्षमा से ही वैर को शांत किया जा सकता है- यही सनातन धर्म है।

सनातन धर्म की जय बोलने से कोई धर्म की जय नहीं होती। सनातन धर्म यह कि हम अपने जीवन में से वैर-विरोध की गाँठ खोलें। हमारे कारण अगर किसी के वैर-विरोध के भाव बन गए हैं तो 'साँरी' कह दें, माफी माँग लें। अवसर ढूँढ लें, जैसे कि शादी का अवसर, राखी का अवसर, वर्षीतप का पारणे का अवसर- इन्हें भुना लो। इस अर्थ में कि आत्म-शुद्धि का, परिवार के मिलन का मौका मिला है लाभ उठाओ कि अगर आपके द्वारा किसी के प्रति वैर-विरोध हुआ है तो क्षमा माँग लो और अपने यहाँ सुअवसर पर आने का आमंत्रण दो। स्मरण रहे, दो पड़ोसियों के मकान पास-पास हो सकते हैं, लेकिन ज़रूरी नहीं है कि उनके मन भी पास-पास हों। दोनों के बीच में बहुत दूरी हो सकती है। किन्हीं कारणों से सम्भव है, दोनों के बीच टकराव हो गया हो, दूरियाँ बन गई हों, लेकिन किसी भी अवसर के आते ही जैसे दिवाली, होली या पर्युषण पर्व पर आपसी गिले-शिकवे मिटाए जा सकते हैं। देखा जाए तो ये पर्व-त्यौहार होते ही इसीलिए हैं कि वर्ष बीत गया, व्यक्ति को अपने जीवन में प्रेम-सम्बन्धों को फिर से जोड़ लेना चाहिए। अगर हम वैर रखेंगे तो

यह आगे के जन्मों तक भी संचारित रहेगा ।

दो सौतन महिलाएँ थीं । उनका आपस में जबरदस्त वैर-विरोध था । जन्मों-जन्मों तक दोनों एक-दूसरे को नुकसान पहुँचाती रहीं, उनका वैर मिटता ही न था । उनमें से एक किसी जन्म में यक्षिणी बन गई और दूसरी कुलकन्या के रूप में जन्मी । बड़े होने पर कुलकन्या की शादी हो गई । उसके सन्तान हुई । तब उस यक्षिणी ने अपने ज्ञान से जाना कि उसका किससे वैर-विरोध रहा है । उसे याद आ गया, उसने कुलकन्या को पहचान लिया । वह वहाँ पहुँच गई और उसने बच्चे को खा लिया । कुलकन्या को बहुत पीड़ा हुई, वह भी पहचान गई । यक्षिणी ने कहा- मैं वही हूँ, जो सात जन्मों से तेरा पीछा करती आ रही हूँ । याद रख मैं तुझे किसी भी हालत में शांति से नहीं जीने दूँगी । कुलकन्या को दूसरी संतान हुई, पर वह यक्षिणी आई और उसे भी खा गई । तीसरी संतान का भी भक्षण कर लिया । इस तरह क्रम चलता रहा । तब पति-पत्नी ने निर्णय लिया कि इस बार की प्रसूति कुलकन्या के पीहर में करवाएँगे । वह पीहर चली गई, बच्चा हुआ । बच्चा एक-दो वर्ष का हो गया, तब उसने सोचा अब तो बच्चा बड़ा हो गया है तो कोई दिक्कत नहीं है । वह चल पड़ी, रास्ते में बच्चे को दूध पिलाने के लिए बैठी तो देखा कि वही यक्षिणी आ रही है । उसने बच्चे को गोद में उठाया और भागी । दौड़ते-दौड़ते भगवान बुद्ध के चैत्य-विहार में जा पहुँची और जाते ही अपना बच्चा उनके श्रीचरणों में चढ़ा दिया । आँखों में आँसू भरकर बोली- प्रभु, मेरे बच्चे को जीवनदान दीजिए । वह प्रेतात्मा यक्षिणी बुद्ध के चैत्य-विहार में प्रविष्ट न हो सकी, क्योंकि देव-देवियों द्वारा रक्षित उस विहार के द्वार पर ही यक्षिणी को रोक दिया गया । जब भगवान बुद्ध को पता चला तो उन्होंने कहा- यक्षिणी को अन्दर बुलाया जाए । यक्षिणी बुद्ध के सम्मुख उपस्थित हुई ।

बुद्ध ने कहा - बहिन, सोचो इस तरह तुम कितने जन्म-जन्मांतरों तक वैर-विरोध करती रहोगी । अगर इस जन्म में भी तुम दोनों ने एक-दूसरे को क्षमा नहीं किया तो ये सात जन्म नहीं, अगले सत्तर जन्म भी गुजार लोगे । तब भी एक-दूसरे का बुरा ही बुरा करते रहोगे । अगर तुम एक-दूसरे का भला करना शुरू कर दो तो इसी जन्म में तुम्हारा कल्याण हो सकता है । अन्यथा बुरा करते हुए तुम्हारी आत्माओं का उद्धार नहीं हो पाएगा । सोचो तुम अपने लिए क्या चाहते हो । तब बुद्ध ने यह गाथा कही थी । उन्होंने कहा- बहनों, यही

सनातन धर्म है कि वैर से कभी वैर शांत और समाप्त नहीं होता, अवैर से ही हम अपने वैर-विरोध को दूर कर सकते हैं।

इस बात की प्रतीक्षा न करो कि सामने वाला हमसे माफी माँगे। स्मरण रहे माफी देने वाला नहीं, माफी माँगने वाला बड़ा होता है। तुम आगे बढ़ो, ज़रूरी नहीं है कि तुम जिससे क्षमा माँगने जा रहे हो, वह भी तुम्हारी विचारधारा से मेल रखता हो। तुम्हारे भीतर दया, करुणा, प्रज्ञा जागी, सचेतनता आई, मंगलभावना उठी, लेकिन ज़रूरी नहीं है कि जो मित्र-भाव तुम्हारे भीतर उठा है, वह उसके भीतर भी जागे। अपनी भावदशाओं में शुभ भावधारा लाओ। शत्रु का भी भला चाहो। आपके विचारों में आ रही निर्मलता से आपका आभामंडल भी निर्मल होगा और इस तरह हम सामने वाले के भावों को निर्मल करने में अवश्य सफल होंगे। तय है अगर आप आगे बढ़ते हैं तो सामने वाला भी आगे बढ़ने को उद्यत हो सकता है। जो झुकता है, वही दुनिया को झुका सकता है। अवसरों के उपस्थित होने पर जरा भी देर न करें अपने विरोधियों को निमंत्रण देने में। फिर चाहे वह विवाह का मौका हो या तपस्या का अवसर। जब आपके निमंत्रण पर विरोधी आ जाए तो समझ लेना कि तपस्या फलित हो गई। अच्छा व्यवहार करके हम दूसरों को भी अच्छा करने का मौका दे देते हैं।

सिकंदर विश्व-विजय की भावना से यूनान से निकला। ज़ाहिर है, जिसे विश्व-विजय करनी है, वह हत्याएँ और नरसंहार करता हुआ आगे बढ़ रहा था। इसी क्रम में वह भारत के तक्षशिला राज्य के पास पहुँचा। जब वह तक्षशिला पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हुआ तो वहाँ के तत्कालीन राजा ने युद्ध के बजाय दोस्ती का हाथ बढ़ाना चाहा। उसने सोचा कि विदेश से आया हुआ राजा जो विश्व-विजय की तमन्ना रखता है तो निश्चय ही वह शक्तिशाली होगा और समझदारी इसी में है कि अपने से अधिक शक्तिशाली से युद्ध करने की अपेक्षा दोस्ती का संदेश भेजें। तब नरेश सिकंदर के सम्मुख उपस्थित हुए और पूछा कि तुम यहाँ खून-खराबा करने आए हो या सम्पत्ति अधिग्रहित करने। उत्तर मिला कि सम्पत्ति लेने। तब उन्होंने कहा कि फिर सम्पत्ति ही लो न, नरसंहार करने की कहाँ ज़रूरत है। सिकंदर ने कहा- बात तो ठीक है। तब नरेश ने कहा- एक लाख स्वर्ण मुद्राओं के साथ मैं आपसे दोस्ती का हाथ बढ़ाता हूँ।

सिकंदर चकित हो गया- दोस्ती के साथ एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ भी।

तब सिकंदर ने मित्रता का हाथ बढ़ाते हुए नरेश को अपनी ओर से दो लाख स्वर्ण-मुद्राएँ अर्पित कीं और जीवन का पहला पाठ सीखा कि जीवन में सम्पत्ति से भी अधिक मूल्यवान मित्रता है। उसने कहा- माना कि वह लूटपाट करके धन चाहता है, विश्व-विजय की कामना करता है, पर इतना कमजोर भी नहीं है, मन का इतना दरिद्र भी नहीं है कि मित्रता के बढ़े हुए हाथ की उपेक्षा कर दे या धन के लालच में हत्या करता रहे। सिकंदर ने कहा- मैं मित्रता ज़रूर करूँगा और एक लाख स्वर्ण मुद्राओं के बदले दो गुना उपहार लौटाऊँगा। यह थी मित्रता की परिणति। हम भी मित्रता के हाथ बढ़ाएँ। आज नहीं तो कल, शत्रु भी मित्रता के लिए तैयार होंगे।

हमें याद रखना चाहिए कि अगर हम अच्छा व्यवहार करेंगे तो अच्छा व्यवहार लौटकर आएगा। मित्रता के भाव रखने पर पुनः मित्रता ही मिलेगी। हिंसा के त्याग से ही प्रेम, करुणा, दया भाव, भाईचारे की भावना उदित होगी। अन्यथा साधना भी करते रहोगे और आचरण भी ठीक नहीं करोगे, तो वह साधना कब पनपेगी, जिससे जीसस का वह वचन फलित हो सके कि- 'कोई तुम्हारे एक गाल पर चाँटा मारे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।' हिंसा का त्याग करके क्या हम इस तरह की उदारता, करुणा की भावना ला सकेंगे। गाली देने वाले को अगर गीत लौटा सकें तो साधना सफल हुई अन्यथा साधना के नाम पर महज टाइमपास हुआ।

मैंने पढ़ा है कि सिक्खों में गुरु-वाक्य अंतिम होता है। अगर गुरु ने कह दिया अर्थात् वह ब्रह्म-वाक्य हो गया। ऐसा हुआ कि एक गुरु ने अपने दो शिष्यों से किसी स्थान पर चबूतरा बनाने के लिए कहा। दोनों ने मिलकर चबूतरा तैयार कर दिया, पर गुरु को पसंद न आया। उन्होंने तोड़कर पुनः बनाया, लेकिन तब भी गुरु को पसंद न आया। इस तरह नौ-दस बार हुआ, तब एक शिष्य ने कहा भगवन् ! आप ठीक-ठीक बता दीजिए कि चबूतरा कैसा बनाना है। तब गुरु ने उन्हें बताया कि ऐसा-ऐसा, अमुक प्रकार का चबूतरा बनाया जाए। उनके कहे अनुसार दोनों शिष्यों ने फिर चबूतरा बनाया, लेकिन गुरु तब भी संतुष्ट न हुए। इस बार तो एक शिष्य से रहा नहीं गया। उसने कहा- लगता है आप बूढ़े हो गए हैं, जो बिल्कुल आपके कहे अनुसार चबूतरा बनाने पर भी आप ठीक से देख नहीं पा रहे हैं। गुरु मुस्कराए। तभी दूसरे शिष्य ने कहा- भगवन् ! आपने तो अच्छी तरह समझाया था, लगता है हमसे ही कहीं

चूक हो गई है। गुरु ने उसकी पीठ थपथपाई और कहा- 'मुझे अपना उत्तराधिकारी घोषित करना था, मैं देखना चाहता था कि तुम दोनों में से कौन है, जो सिक्खों की गुरु-परम्परा को थामने का सामर्थ्य रखता है। मैं तुम्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित करता हूँ।'

शायद यह कहानी चौथे गुरु रामदासजी से सम्बन्धित है। वास्तव में वे धैर्य की कसौटी पर, परीक्षा में खरे उतरे और उत्तराधिकारी बन सके।

इसी तरह हम स्वयं को तौलें कि हममें कितना धैर्य है। हम साधना-मार्ग के पथिक हैं, लेकिन हम कितने सहनशील और उदात्त भाव से भरे हैं, यह देखें। साधना-मार्ग के पथिक के लिए धैर्य ही एकमात्र संबल है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में धारण किया गया पाँच मिनट का धैर्य पचास मिनट की अशांति से बचा लेता है। जब दूसरों को अच्छा व्यवहार देना है तो धैर्य बहुत जरूरी है।

एक दिन का जीवन जीने के लिए व्यक्ति को दिनभर में न जाने कितनी तरह की हिंसा करनी पड़ती है। एक समय का भोजन बनाने में भी कई तरह की हिंसा करनी पड़ती है, लेकिन यह मानते हुए कि यह जीवन के लिए आवश्यक हिंसा है, करनी ही पड़ती है, लेकिन जो अनावश्यक है, वह हिंसा क्यों की जाए ? वैसे भी मैं किसी औपचारिकता के लिए हिंसा के त्याग की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं इन्सानियत के लिए मानवता का स्वरूप कुछ बेहतर हो सके, इसलिए हिंसा के त्याग की बात कर रहा हूँ। आप लोग वैर-विरोध, निंदा-आलोचना जैसी हिंसा से भी बचें। कटु वाणी बोलना गलत है, तो निंदा-आलोचना भी नहीं की जानी चाहिए। जीवन में अधिक से अधिक प्रेम, शांति, क्षमा के फूल खिलाएँ।

स्वयं को पंचशील की ओर बढ़ाने के लिए साधक भाई-बहनों से अनुरोध करूँगा कि 'अहिंसा' उनका मज़बूत पाया बने। अहिंसा से जियेंगे, अहिंसा ही आपकी छाया हो और अहिंसा ही आपकी आभा। पूरा होश, बोध और विवेक रहे कि वैर-विरोध और द्वेष न हो। महावीर का संदेश है कि प्रत्येक व्यक्ति वीतराग, वीतमोह और वीतद्वेष बने। हम वीतराग या वीतमोह नहीं बन सकते तो कोई दिक्कत नहीं, कम से कम वीतद्वेष तो अवश्य बनें।

मैं अपने बारे में ही बताना चाहूँगा कि जब मैंने साधना मार्ग पर क़दम बढ़ाए तो स्वयं को तौला कि मैं पूरी तरह से वीतरागी जीवन नहीं जी पाऊँगा, क्योंकि मेरे अन्तर्हृदय में प्रेम ज़्यादा है। प्रेम मेरे लिए ईश्वर है, प्रेम ही प्रार्थना

है, प्रेम स्वयं साधना है। मेरी अन्तर-साधना ने मेरे भीतर प्रेम के ही फूल खिलाए। मैं प्रेम का निर्झर बना। वीतरागता-वीतमोह होना प्रेम से ऊपर उठने की बात करता है। मुझे लगा - मैं वीतराग-वीतमोह नहीं हो सकता, पर वीतद्वेष होने की साधना कर सकता हूँ। यानी किसी के प्रति, किसी भी परिस्थिति में द्वेष की कटार नहीं चलने देंगे। अगर लगा कि किसी के मन में हमारी वजह से ठेस पहुँच गई है दस बार नहीं, सौ बार भी 'सॉरी' कहना पड़े तो मुझे तकलीफ नहीं होगी। किसी भी परिस्थिति में वैर-विरोध नहीं पालेंगे। छोटे-छोटे जीवों को भले ही न बचा पाएँ लेकिन अपनी आत्मा को गिरने से तो बचा सकते हैं। वैर-विरोध न पालने का भाव तो पूरा आस्था के साथ स्वीकार कर सकते हैं। सभी के साथ प्रेम से मिलें। शंका, संदेह, अविश्वास न रखें, अन्यथा आपका विश्वास और भरोसा टूटता जाएगा। श्रद्धा रखें।

प्रेम के बदले में प्रेम लौटता है और विद्वेष के बदले में विद्वेष ही लौटता है। हवाएँ अगर सीधी चलेंगी तो फूलों की खुशबू भी सीधी ओर बहेगी। हवा अगर उल्टी चलेगी तो फूलों की खुशबू भी विपरीत दिशा में जाएगी। हमारे पास अगर अहिंसा का, प्रेम का शील होगा तो विपरीत दिशाओं में भी हमारे व्यवहार की सुवास आएगी।

चलने वाले राहगीर के हाथ में अगर एक दीपक हो, तब भी अंधकार कम होता है। दीपक बढ़ते गए तो अंधकार दूर, बहूत दूर चला जाएगा। हम पंचशीलों को अपनाकर अपने जीवन को प्रकाशित कर सकें। इसी मंगलभावना के साथ-

प्रेमपूर्ण नमस्कार !



3

विपश्यना : आखिर क्या है ?

‘विपश्यना’ जीवन की आन्तरिक और आध्यात्मिक सच्चाइयों से मुलाकात करने का साधनामूलक मार्ग है। यह स्वानुभूति का मार्ग है। ‘विपश्यना’ शब्द का अर्थ है विशेष रूप से किसी भी सत्य को भलीभाँति देखना और जानना। ‘पश्य’ का अर्थ है देखना और ‘विपश्य’ अर्थात् विशेष प्रकार से देखना। हजारों वर्ष पूर्व भगवान महावीर और भगवान बुद्ध ने अनेक बार इस शब्द का प्रयोग किया है। महावीर जिसे ‘अनुपश्यना’ कहते हैं, उसी को बुद्ध ‘विपश्यना’ कहते हैं। ‘अनुपश्यना’ अर्थात् लगातार देखना और ‘विपश्यना’ अर्थात् विशेष रूप से देखना। इस मार्ग पर चलकर अनेक लोगों ने संबोधि का प्रकाश उपलब्ध किया है, अपने जीवन में ‘अर्हता’ को प्राप्त किया है, अनेक लोग सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और अरिहंत हुए हैं।

मुझे यह मार्ग विश्व की सबसे सरल पद्धतियों में प्रतीत होता है। समझ में आने पर इससे सरल अन्य कोई मार्ग नहीं हो सकता। ‘विपश्यना’ वह मार्ग है, जिसे बच्चा, युवक या बुजुर्ग सभी अपना सकते हैं। इस मार्ग में हम उन अज्ञात

या अदृश्य वस्तुओं से नहीं जुड़ते हैं, जिन्हें अभी देखा या जाना नहीं है। यह मार्ग हमें ऐसे तत्त्वों से जोड़ता है, जो हमें अपने सत्य से मुलाकात करवाता है। यह मार्ग हमें अपने वर्तमान सत्य से मुखातिब करवाता है। जिनकी प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है, उन तत्त्वों से यह मार्ग हमें जोड़ता है। यह मार्ग सत्य से साक्षात्कार करने का मार्ग है। चाहे पतंजलि का राजयोग हो, महावीर की अनुपश्यना हो या बुद्ध की विपश्यना- ये सारे मार्ग इंसान को उसके वास्तविक सत्य से मुलाकात करवाते हैं, आध्यात्मिक सत्य से।

यूँ तो सारे धर्मशास्त्र आत्मा और परमात्मा की बातें करते हैं, इन्सान को जितेन्द्रिय होने की प्रेरणा देते हैं, हमारे द्वारा संचित कर्मों से छुटकारा पाने की बात करते हैं, लेकिन हम अपने कर्म-मल को कैसे धोएँ, अपनी इन्द्रियों के गुणधर्मों से कैसे उपरत हों, हम अपनी काया और काया के उपद्रवों से कैसे मुक्त हों, हमारे जीवन के अस्तित्वगत मूल तत्त्व क्या हैं, उन सत्यों से कैसे वाकिफ़ हों, इसके लिए ऐसा वैज्ञानिक मार्ग तलाशना होगा जो तर्क के भी अनुरूप हो, हमारी प्रत्यक्ष अनुभूति में भी आ सकता हो- ऐसा मार्ग 'विपश्यना' का है। यह मार्ग हमें सबसे पहले अपनी साँसों से जोड़ता है। साँसों से जोड़कर हमें हमारे अन्दर व्याप्त चार प्रकार की मुख्य सच्चाइयों से प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक मुलाकात करवाता है।

साँस से शुरू हुई यात्रा सबसे पहले हमें हमारी काया से मिलवाती है। दूसरे- हमारी काया के भीतर जो अलग-अलग तरह के उपद्रव उठते हैं- चाहे वे भूख, भोग, वायु, कफ, पित्त के विकार हों या सुख-दुःखमूलक संवेदना या अहसास हों। इनके प्रति साक्षी, ज्ञाता, दृष्टा होने का मार्ग विपश्यना से मिलता है। दूसरी सच्चाई यह है कि हमारे भीतर उठने और विलीन होने वाले सुख-दुःख, अनुकूल और प्रतिकूल संवेदन रहते हैं। विपश्यना इनका साक्षी बनाता है। तीसरी सच्चाई है- अन्तरमन, चित्त, चित्त के संस्कार, इनकी धाराएँ, मन के भीतर उठने वाले उद्वेग और संवेग, विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ, स्मृतियाँ, राग-द्वेष के संस्कार - विपश्यना हमें इस तीसरे सत्य से मुलाकात करवाता है, क्योंकि इसी से हम अपने जीवन की समस्त गतिविधियाँ संचालित करते हैं। चौथा सत्य जिससे मुखातिब होते हैं, वह है- हमारे जीवन के मौलिक धर्म, अनुकूल धर्म, प्रतिकूल धर्म, वासनामूलक धर्म, करुणामूलक धर्म। कुछ धर्म तो हमें विरासत में मिलते हैं, कुछ शास्त्रों से मिलते हैं, लेकिन विपश्यना का

मार्ग हमें जीवन के वास्तविक धर्म से परिचित कराता है।

विपश्यना का मार्ग स्थूल से सूक्ष्म की ओर, बाहर से भीतर की ओर ले जाने वाला मार्ग है। बाहर की अशांति को मिटाकर भीतर की शांति को उदय करने वाला मार्ग है। होश और बोधपूर्वक बोधिलाभ के साथ अपने जीवन को जीने का मार्ग है। जब हम इस मार्ग पर चलने के लिए तत्पर हो रहे हैं तो हमें बाहर की स्मृतियों को, बाहर के सम्बन्धों को, बाहर की मुलाकातों को, बाहर के रस, रंग, राग को कम करने के प्रति जागरूक हो जाना चाहिए, क्योंकि यह मार्ग विशुद्ध रूप से स्वयं से साक्षात्कार करने का मार्ग है। यह हमारे भीतर पलने वाले दुःख-दौर्मनस्य के अवसान का मार्ग है। हमारे भीतर रहे हुए वैर-विरोध के समाप्तिकरण का मार्ग है। यह हमें बाहर के भटकावों से हटाकर अन्तर्यात्रा के लिए तत्पर करता है। यदि हम लोग बाहर के रस, रंग, राग में रुचि लेते रहे तो अपने वास्तविक सत्य से मुलाकात नहीं कर पाएँगे। हमें बाहर के आकर्षण से मुक्त होकर भीतर के आकर्षण में जाना है।

विपश्यना- पलकों को झुकाकर या पलकों को खोलकर भी की जा सकती है। दूसरे मार्गों में विरोधाभास भी हो सकता है, लेकिन मैं इसे बिल्कुल सीधा सरल मार्ग मानता हूँ। इस साधना-पद्धति में कहीं कोई बाधा नहीं है, जो है बस उसे जान रहे हैं, उसके प्रति जाग रहे हैं, स्मृतिमान हो रहे हैं। बस, यही इस मार्ग की सबसे बड़ी विशेषता है। जो है, जब इससे अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति जोड़ रहे हैं, उस दौरान चित्त में कोई अवरोध आ गया, चित्त भटक गया, तब भी यह मार्ग यह नहीं कहता कि तुम्हारा चित्त भटक गया है तो इसे बार-बार कंट्रोल करो। यह मार्ग बताता है कि तुम केवल साँसों पर ध्यान धरो। इस बीच अगर कोई तत्त्व आकर्षित कर ले तो यह मत समझो कि तुम भटक गए हो, बल्कि यह देखो कि तुम्हारा चित्त किस तत्त्व के प्रति आकर्षित हुआ। जिसने भी तुम्हारे चित्त को आकर्षित किया है, उस तत्त्व के प्रति अब तुम जाग जाओ। तुम तब तक जगे हुए रहो जब तक कि तुम्हारा ध्यान, तुम्हारी जागरूकता पुनः स्वतः ही श्वासों पर केन्द्रित न हो जाए। यह मार्ग एकाग्रता का मार्ग नहीं है। यह तो सीधे तरीके से जो कुछ हो रहा है, उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति करने की सलाह देता है।

जीवन में न कुछ अच्छा है, न कुछ बुरा है, न कुछ उचित है और न कुछ अनुचित है। यह मार्ग हमें बताता है कि अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष मत करो, क्योंकि दोनों ही दो पल की अलग-अलग परिस्थितियाँ हैं। यहाँ तो

हर पल परिवर्तनशील है। व्यक्ति, विचार, शब्द, परिस्थितियाँ, खाना-पीना, भोग, देह, व्यवस्थाएँ, प्रकृति, जगत— यहाँ तो सभी परिवर्तनशील हैं। इस परिवर्तनशीलता का हमें प्रत्यक्ष अनुभूति में ज्ञाता होना है। परिवर्तनशीलता का गुणधर्म समझ में आ गया तो समझो अध्यात्म की बाजी जीत ली। समता और समरसता स्वतः आ गई। इसलिए यह मार्ग कोई आग्रह या दुराग्रह नहीं करता। बस जो है, उससे मुलाकात करवाता है। जो हमें प्रत्यक्ष अनुभूति में आ रहा है, उससे मुलाकात करना है। उसके प्रति स्वयं को जागरूक करना होता है। सत्य जैसा है, तत्त्व जैसा है, प्रकृति जैसी है, उसे होश और बोधपूर्वक जानते रहना है। आत्यंतिक रूप से जानना है।

विपश्यना तीन चरणों में की जा सकती है — एक- हम अपने जीवन की दैनिक गतिविधियों को, जैसे- खाते-पीते, चलते-फिरते, संचालित करते हुए विपश्यना कर सकते हैं। माना कि हम खाना खा रहे हैं तो जागरूकतापूर्वक, भलीभाँति उसे देखते हुए खा रहे हैं, तो वह भोजन करना भी विपश्यना ही कहलाएगा। अभी तो हम कैसे खाते हैं, आप जानते हैं। सामने थाली रखी है, षट्स व्यंजन हैं, पर खाने के साथ गप्पें चल रही हैं, व्यापार हो रहा है, फोन-मोबाइल सुने जा रहे हैं, टी.वी. के आगे बैठ गए हैं, क्रिकेट मैच हो रहा है, कोई सीरियल देखा जा रहा है और साथ में भोजन भी हो रहा है। पत्नी ने बड़े मन से आपकी पसंद का भोजन बनाया है, पर आपको कुछ पता नहीं चल रहा। जैसे-तैसे पेट में उड़ेल रहे हैं। यह भी कोई भोजन करना हुआ। न स्वाद का आनन्द, न भोजन के प्रति होश और बोध।

अगर आप चल रहे हैं और प्रत्येक कदम को जागरूकतापूर्वक रख रहे हैं तो कह सकते हैं कि विपश्यना की जा रही है। तब आपका मनोयोग, काययोग, प्रज्ञा, बुद्धि और जागरूकता भी उससे जुड़ी हुई होगी। कभी-कभी अपने हाथ में एक गिलास जूस या शर्बत या दूध ले लो और कहीं एकांत में बैठ जाओ और पन्द्रह मिनट तक धीरे-धीरे उसे पीओ। उसका एक-एक घूंट बड़ी मधुरता और स्वाद के साथ विपश्यना करते हुए पियो। इस सेवन करने की, ग्रहण करने की विपश्यना में पहली बार आपको रस और वस्तु की वास्तविक स्थिति का पता चल पाएगा। पहले पहल आपको गिलास, प्याला और द्रव दिखाई देगा। आपको पिंड नज़र आएगा, लेकिन ज्यों-ज्यों विपश्यना गहरी होगी, अस्तित्व का सारा सम्बन्ध उसमें नज़र आने लगेगा। जब प्याला होंठों से लगाया तो द्रव

की ऊष्णता या शीतलता महसूस होगी और अनुकूल या प्रतिकूल संवेदन का अनुभव होगा। संवेदना की गहनता से हमें पता चलेगा कि यह द्रव किस पदार्थ का है। तब उसमें वनस्पति की गंध, सम्बन्ध अनुभव होगा। वनस्पति के जीवन का तत्त्व नज़र आएगा और तब एक आत्मीय भाव उमड़ेगा और जब मुँह में एक घूँट रखेंगे, तब हमारे भीतर के प्रत्येक अणु में उस स्वाद की अनुभूतियाँ महसूस होंगी। यह गहरी विपश्यना की परिणति होगी।

विपश्यना का एक दूसरा रूप है — विपश्यना चंक्रमण। चंक्रमण का अर्थ है चलना अर्थात् चलते हुए विपश्यना करना। विशेष रूप से जिस दिन पूर्णिमा की रात हो आप उस दिन किसी एकांत पगडंडी या घर की छत का चयन कर लें और चाँद की रोशनी में विपश्यना चंक्रमण करें। बीस से तीस मिनट तक वहाँ टहलें। इस टहलते समय हम जो पाँव ज़मीन पर रख रहे हैं, उस पाँव के ज़मीन से हो रहे स्पर्श को महसूस करें। हम अपना पाँव आहिस्ता से रखें और आहिस्ता से उठाते हुए आगे बढ़ें कि हमें ज़मीन के स्पर्श का भी अनुभव हो। पाँव में होने वाली विशिष्ट संवेदनाओं का भी अनुभव हो। यह आँख खोलकर की जाने वाली विपश्यना है। इसमें हम अपनी सचेतनता को जोड़ रहे हैं। महावीर ने इसे ही समिति और गुप्ति कहा, बुद्ध इसे विपश्यना चंक्रमण कहते हैं। साधना में ऐसे ही गहराई आती है, बस लयलीन होने की, स्वयं को तल्लीन करने की ज़रूरत है।

मैंने सुना है, हैदराबाद के निज़ाम के मन में यह इच्छा जाग्रत हुई कि वह लखनऊ के प्रसिद्ध संगीतकार का संगीत सुने। उसने उन्हें आमंत्रित किया, लेकिन संगीतकार ने शर्त रखी कि वह आ तो जाएगा, लेकिन उसका संगीत सुनते हुए कोई भी ताली न बजाए और न ही सिर हिलाए। अगर किसी ने ऐसा किया तो उसका सिर कलम करना होगा। निज़ाम के मन में बार-बार तमन्ना उठती थी कि वह उस संगीतकार का संगीत सुने। निज़ाम ने उसकी शर्त कबूल कर ली और घोषणा भी करवा दी कि जो भी व्यक्ति संगीत सुनने आए वह उस संगीतकार की शर्त पर ही आए अन्यथा इसे राजाज़ा का उल्लंघन माना जाएगा और उसका सिर धड़ से अलग कर दिया जाएगा।

कई लोग जो उसका संगीत सुनने में रुचि रखते थे, फिर भी मरने के डर से न आए। लेकिन कुछ रसिक श्रोता फिर भी आए और ऐसे बैठ गए मानो मन्दिर में मूर्ति हो। संगीत शुरू हुआ। लोग पत्थर के बुत की तरह बैठे रहे, हिले भी

नहीं। संगीत गहन होता गया, यहाँ तक कि लोगों की श्वास रुक गई और तभी अचानक संगीत बन्द हो गया। उसने नज़र उठाई और देखा कि लोग बुतों की तरह बैठे हैं, फिर भी कुछ लोगों की गर्दन धीरे-धीरे हिल रही है। संगीत के रुकते ही राजा ने भी लोगों की ओर देखा उसे भी वही नज़ारा दिखाई दिया। कुछ लोग तल्लीन हो गए हैं, मस्ती ले रहे हैं और गर्दन भी हिला रहे हैं। संगीतकार ने कहा ये जो कुछ लोग हैं, इन्हें अलग ले जाया जाए। उन लोगों का ध्यान टूटा, वे चौंके, अरे ! हमने यह क्या कर दिया। शेष लोगों को रवाना कर दिया। सभी विचलित हो गए कि राजाज्ञा तो हम भूल ही गए, अब हमारी गर्दन अलग कर दी जाएगी। जैसे ही गर्दन अलग करने के लिए सैनिक आया, संगीतकार ने कहा- ठहरो। उसने बताया कि मैंने कहा था कि जो लोग सिर हिलाएँ उनके सिर कलम कर दिए जाएँ फिर आप लोगों ने सिर क्यों हिलाए।

उन लोगों ने बताया- हम सोच कर बैठे थे कि किसी भी हालत में अपनी गर्दन नहीं हिलाएँगे, लेकिन संगीत की गहराई में, उसकी मधुरता में इतने तल्लीन हो गए कि हमें पता भी न चला कि कब गर्दन हिलने लगी। पूछा गया कि वे राजाज्ञा को भी भूल गए। उत्तर मिला कि राजाज्ञा का भी कोई बोध न रहा, हम तो संगीत में इतने डूब गए कि सब कुछ भुला बैठे। राजा ने कहा- इन लोगों की गर्दन उड़ा दी जाए। संगीतकार ने कहा- ठहरो ! राजन् ये ही वे पात्र हैं, जो मेरे संगीत को सुनने की वास्तविक क्षमता रखते हैं। अरे वह संगीत ही क्या जिसे सुनकर व्यक्ति दुनिया को न भुला सके, जिस संगीत को सुनकर व्यक्ति अपने प्राणदंड की राजाज्ञा ही भुला दे। संगीत वही सार्थक है, जिसमें लयलीन होकर व्यक्ति सब कुछ भूल जाए। ऐसा संगीत सुनने का हकदार भी वही व्यक्ति है, जिसे कुछ भी सुध-बुध न रहे। कहते हैं तब उस संगीतज्ञ ने अन्य लोगों को विदा कर दिया और इन चुनिंदा लोगों के लिए अपना सर्वश्रेष्ठ संगीत प्रस्तुत किया।

विपश्यना भी एक ऐसा ही मार्ग है, जिसमें स्वयं को संगीत की तरह लयलीन कर लेना होगा। विपश्यना की जागरूकता में, साधना में, स्वयं की आत्मस्मृति में जो लयलीन हो गया कि जिसे अन्य किसी बात की सुधबुध ही नहीं रही, वही वास्तव में इस मार्ग का सच्चा पथिक हो सकेगा। यह वह मार्ग है, जिसमें स्वयं की आध्यात्मिक उन्नति के लिए, स्वयं की सच्चाइयों से मुखातिब होने के लिए, स्वयं की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए अपने को लगाना

होगा। स्वयं में दत्त-चित्त करना होगा। फिर यह कार्य चाहे आँखें खोलकर करें या बन्द करके। अगर आँखें खोलकर करते हैं तो जागरूकतापूर्वक प्रत्येक गतिविधि को संचालित करना होगा। पलकें झुकाकर अगर भीतर की विपश्यना करेंगे तो स्वयं के प्रति जागरूक और सचेतन होना होगा, क्योंकि स्वयं से मुलाकात करनी है। धैर्यपूर्वक स्वयं से जुड़ना होगा। जो जागे सो पावे, जो सोवे सो खोवे। जो स्वयं के प्रति जाग्रत होता है, वही स्वयं को प्राप्त करता है।

ध्यान करते हुए अगर एक पल का भी प्रमाद आ गया तो आपकी विपश्यना व्यर्थ हो गई। ऐसी दशा में आप खड़े हो जाएँ और अपने प्रमाद को, बेहोशी को दूर करें और स्वयं को देखें कि आप कहाँ लटक गए। साधक की पहली ताकत, पहली बैसाखी, पहली शक्ति, पहली आँख और पहला गुरु अप्रमाद है। प्रमाद के साथ कोई भी साधना के रास्ते पर आगे नहीं बढ़ सकता है। अप्रमाद साधना का अनिवार्य तत्त्व है। माना कि साधक के भीतर लक्ष्य है, अध्यात्म के प्रति रसरंग है, स्वयं के सत्य को जानने के प्रति गहरी प्यास, गहरी मुमुक्षा है, लेकिन इनसे भी अधिक ज़रूरी है हमारा अप्रमाद। स्मरण रहे, आलस्य, प्रमाद, मूर्च्छा या बेहोशी के साथ साधना करने पर निरन्तर जागरूकता न रह सकेगी और हमारा चित्त कहीं और भटक जाएगा। विपश्यना का अर्थ ही है — भलीभाँति, जागरूकतापूर्वक देखना, देख-देखकर पुनः-पुनः देखना, अपने-आप से अपनी अनुभूति को जोड़ना।

जब आप आइना देख रहे हैं, उसमें स्वयं को निहार रहे हैं, कि तभी अचानक आपके मन में शृंगार करने का भाव आ जाए तो आपके चित्त की धारा स्वतः शृंगार की ओर बह जाएगी। तब भले ही आप दर्पण के सामने हों, पर शृंगार के भाव उठने लगेंगे। विपश्यना में हमारी काया नहीं, चित्त या मन ही विश्राम करता है। ऐसे में अगर मन भटकने लगे तो विश्राम नहीं हो पाता। सोचें विपश्यना सोए-सोए होगी या जागकर ? सामान्य रूप से देखने के लिए भी आँख लगानी होती है और विशेष रूप से देखने के लिए तो पूरी जागरूकता रखनी होती है। जब काँटा चुभ जाए, तब भी पूरा ध्यान लगाकर हमें देखना पड़ता है तो हमारे अन्दर जो उपद्रव उठते हैं, राग-द्वेष के संस्कार, संकल्प-विकल्प के विचार उठते हैं, उन्हें देखने के लिए, जानने और बाहर निकालने के लिए बाह्य जागरूकता से कई गुना अधिक भीतर की जागरूकता के लिए तत्पर होना होगा। अपने प्रति दत्त-चित्त होकर जागरूक हुए बिना विपश्यना न हो

सकेगी, ध्यान भी न होगा। तब आपके लिए पूजा, प्रार्थना, भक्ति, जप, जाप का मार्ग ही उचित रहेगा। विपश्यना तभी परिणाम देगी, जब हम अपने चित्त को, अपनी अन्तरात्मा को, अपनी बुद्धि और अपनी प्रज्ञा को जागरूकता और होशपूर्वक उसके साथ जोड़ेंगे, एकरूप करेंगे, एकलय करेंगे।

हम लोग दीपक और टॉर्च के बारे में जानते हैं। दीपक का प्रकाश चारों ओर फैलता है और टॉर्च का प्रकाश एक बिन्दु को प्रकाशित करता है। जब हमें किसी बारीक चीज को ढूँढना होता है तो हम टॉर्च का उपयोग करते हैं। माना कि दीपक का प्रकाश चारों ओर प्रकाशित होता है, लेकिन अगर हमें विपश्यना करनी है तो हमें अपनी सचेतनता और जागरूकता को टॉर्च की तरह, किसी प्रकाश-रेखा की तरह उपयोग करना होगा, होश और बोध को केन्द्रित करना होगा। विपश्यना करते हुए हमें स्वयं को स्वयं में प्रतिष्ठित करना है।

विपश्यना पल-पल जागने का मार्ग है। जागरूकता और भटकाव साथ-साथ नहीं चल सकते। सागर में लहरें और चित्त में संस्कार उठना सहज प्रकृति है, लेकिन इससे परेशान होने की ज़रूरत नहीं है। इसे भी प्रत्यक्ष अनुभूति में लाना है, इसे जानना है बिना प्रतिरोध के, तभी हम इससे मुक्त हो सकेंगे। बाधा डालने से यह बार-बार आंदोलित होगा। इसलिए बिना विचलित हुए अपनी हर धारा के प्रति जागें। यही विपश्यना है। विपश्यना आपको वर्तमान में उदय-विलय का साक्षी बनाती है। न भूत, न भविष्य, जो है, वह आज अभी इस वर्तमान क्षण में है। विपश्यना में व्यक्ति जो हो रहा है, उसके प्रति अपने साक्षी भाव को विकसित करने का अभ्यास करता है। प्रयास नहीं, अभ्यास ! क्योंकि बात एक ही दिन में नहीं सधेगी। महावीर प्रभु को भी साढ़े बारह वर्ष में अपनी अनुपश्यना-विपश्यना का परिणाम प्राप्त हुआ था। भगवान बुद्ध भी छः वर्ष में विपश्यना की परिणति पा सके थे। खूब तपाया स्वयं को, भूखे रहे, अत्यन्त अपरिग्रह और त्याग को जिया, तब भी साढ़े छः वर्ष लग गए। हम लोग जो तप-त्याग करते हैं, वह केवल स्वयं को सांत्वना देना है। हम तो उपवास एकासन में मन को राजी कर लेते हैं कि आज हमारा व्रत है। जरा उन तपस्वियों के बारे में सोचें, जिन्होंने गहन तपस्याएँ कीं और खाने को क्या मिला ? उड़द के बाकुले ! भगवान महावीर को साढ़े पाँच माह की तपस्या के बाद यही तो खाने को मिला था न ! और हम जीभ के स्वाद के पीछे भागे जाते हैं।

ऐसा न सोचें कि आज विपश्यना प्रारम्भ की और कल हम सिद्ध-बुद्ध हो

जाएँगे। इस गफ़लत में न रहें। बीज बोते ही पेड़ नहीं उगता। हमें बीज बोना होगा, सींचना होगा, रखवाली करनी होगी। हमारे भीतर राग-द्वेष की इतनी गहरी पथरीली पर्तें जमी हुई हैं कि उन्हें धीरे-धीरे समझकर उघाड़ना होगा। एक दिन में ही सब कुछ नहीं होने वाला है। धीरे-धीरे स्वयं से मुलाकात करेंगे और विपश्यना के अर्थबोध को जगाए रखेंगे।

यहाँ साधक को आतापी होना होगा, साधना की गहराइयों में तपना होगा। अपनी स्मृति को, बोध को लगातार स्वयं के साथ जोड़ना होगा। दुःख-दौर्मनस्य, विकार-वासनाएँ सभी शान्त और विलीन होते जाएँगे— जैसे-जैसे हम शान्त और अन्तर-विलीन होते जाएँगे। यदि साधक के चित्त में इनके उपद्रव उठते हैं, तो इसका मतलब है, हम अभी तक शांति को गहराई तक नहीं साध पाए, गहराई तक नहीं उतार पाए। जैसे-जैसे संकल्प-विकल्पों की हवाएँ शान्त होंगी, भीतर में तरंगायित होने वाली क्रोध, विकार, भोग की लहरें भी शान्त होती जाएँगी।

यह धीरज का मार्ग है, यह शमन का मार्ग है, शान्ति का मार्ग है। यह होश और बोधपूर्वक जीने का मार्ग है। बस, आतापी बनो, एक ही बोध रखो कि मैं शान्त हो रहा हूँ, शान्ति में प्रवेश कर रहा हूँ, चित्त को शान्त कर रहा हूँ। उपशमन का भाव गहरा होते ही सब कुछ शान्त हो जाएगा। तब सहज स्वानुभूति का वातावरण तैयार हो जाएगा।

कहते हैं- बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य से कहा, 'आनन्द ! ज़रा अमुक झील से पानी ले जाओ, ग्रहण करेंगे।' आनन्द झील पर गया, पर झील से अभी-अभी बैलगाड़ी गुजरकर गई थी, सो पानी गंदला था। वह वापस लौट आया। उसने कहा, 'भगवन् ! क्या दूसरे सरोवर से पानी ले आऊँ ?' बुद्ध ने कहा, 'पानी उसी से लाना है। थोड़ी देर बाद ले आना।' आनन्द वापस गया, पर उसे लगा पानी इतना निर्मल नहीं है कि भगवान की सेवा में समर्पित किया जा सके। वह पुनः लौट आया। बुद्ध ने संध्याकाल में फिर आनन्द से कहा, 'ज़रा पुनः जाओ और जल ले आओ।' आनन्द इस बार जल लेकर आया, क्योंकि पानी अब तक पूर्ण निर्मल हो चुका था। पानी पीते हुए बुद्ध ने कहा, 'क्या कुछ समझे ?' शिष्य ने कहा — 'मतलब ?' बुद्ध ने जवाब दिया, 'वत्स ! झील की तरह ही हमारा मन है, चित्त है, यह भी भीतर-बाहर गुजरती बैलगाड़ियों के कारण दूषित है, पर यदि विपश्यी साधक भीतर का ध्यान करते हुए धैर्य धारण

कर ले तो जल की तरह यह भी निर्मल और ग्राह्य हो जाता है।’

हममें से हर किसी को यह प्रेरक दृष्टान्त याद रखना चाहिए और धैर्यपूर्वक स्वयं से मुलाकात करनी चाहिए। आओ, हम बुद्ध के सान्निध्य में विपश्यना का आनन्द लेते हैं।

कहते हैं — हजारों वर्ष पहले भगवान बुद्ध किसी पूर्णिमा के दिन अपने साधक-साधिकाओं, भिक्षुओं और श्रावकों को एकत्रित किए हुए अशोक-वृक्ष की पावन और शीतल छाया में बैठे हुए थे। सरोवर की ठंडी हवाएँ और लहरों की ध्वनि आ रही थी, कहीं-कहीं जुगनू चमक रहे थे, चिड़ियों की चहचहाहट सुनाई दे रही थी, उस समय भगवान बुद्ध ने विपश्यना के सम्बन्ध में महान उद्बोधन दिया था, जिसमें विपश्यना का सारा मर्म छिपा हुआ था।

भगवान बुद्ध ने ‘महासति पट्टान सुत्त’ के नाम से जो पावन उपदेश दिया था, उसमें विपश्यना का सारा मार्ग और राज छिपा हुआ है। वह उपदेश कुरु नामक प्रदेश में दिया गया। कहा जाता है कि एक समय भगवान कुरु प्रदेश में कर्मास धर्म नाम के कुरुओं के निगम में विहार करते थे। वहाँ भगवान ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया और कहा- हे भिक्षुओ ! हे साधको ! तब उन भिक्षुओं और साधकों ने भगवान को प्रत्युत्तर दिया- भदन्त आज्ञा दीजिए। तब भगवान ने कहा- हे भिक्षुओ, हे साधक भाइयो ! ये जो चार स्मृति-प्रस्थान हैं, वे सत्त्वों की शुद्धि, शोक और क्रंदन का विनाश, दुःख और दौर्मनस्य का अवसान, सत्य की प्राप्ति और निर्वाण का साक्षात्कार इन सबके लिए अकेला मार्ग है।

जब कोई केवल ज्ञानी अपनी तरंग में कुछ कहना चाहता है तो अपने साधकों को एकत्रित करता है और उन्हें जीवन का संदेश देता है। ऐसा रोज-रोज नहीं होता। यह घटना तो कभी-कभी घटती है कि वह अपने पाए हुए सत्य को दूसरे के सामने उद्घाटित कर उन्हें भी सत्य से साक्षात्कार करने का आमंत्रण देता है। वह उस मार्ग को बताता है, जिस पर चलकर इंसान अपने अस्तित्व की विशुद्धि प्राप्त करता है, शोक और क्रंदन का विनाश करता है, अन्तरमन में पलने वाले दुःख और दौर्मनस्य का अवसान करता है, अपने वास्तविक सत्य की प्राप्ति करते हुए महापरिनिर्वाण, महामोक्ष को उपलब्ध होता है।

बुद्ध कहते हैं चार स्मृति। प्रस्थान हैं — काया की अनुपश्यना, वेदना की अनुपश्यना, चित्त की अनुपश्यना और धर्म की अनुपश्यना। अर्थात् अनुपश्यना के ये चार चरण हैं। ज़रूरी नहीं है कि प्रतिदिन चारों ही तत्त्वों की विपश्यना-

अनुपश्यना करें। भगवान ने हमें चार धरातल बता दिए, हमें अपने लिए जो अनुकूल लगे उस धरातल को अपने साथ जोड़ लें।

प्रथम अभ्यास के लिए क्रमशः चरण स्वीकार करें। पहले स्थूल की अनुपश्यना, पहले स्थूल का ध्यान, स्थूल का ज्ञान, स्थूल पर सचेतनता, फिर सूक्ष्म पर सचेतनता। स्थूल, जो अनुभव में आ रहा है, जब उसी पर पूरे सचेतन नहीं हो पाते, तो सूक्ष्म पर कैसे सचेतन होंगे, उसे कैसे पकड़ेंगे ?

हम क्रमशः अनुपश्यना साधें।

पहली है- कायानुपश्यना अर्थात् अपने देहपिंड के प्रति भलीभाँति जागरूक होना, उसे भलीभाँति भीतर और बाहर से देखना, समझना, उसका बोध प्राप्त करना। वेदनाओं की अनुपश्यना अर्थात् शरीर में जगने वाले अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन और अहसासों के प्रति जागरूक होना। हमारे इस देहपिंड में जो सुखद या दुःखद उदय-विलय हो रहे हैं, उन्हें भलीभाँति देखना, जागरूक होना और उनका बोध प्राप्त करना। उनकी प्रकृति को समझकर उनका निवारण करना। कायानुपश्यना करते हुए हम जानने लगते हैं कि यह त्वचा है, यह मांसपिंड है, यह हड्डियाँ हैं, यह वायु, कफ, पित्त, मल-मूत्र, पसीना है, यह आँखों का मैल है, वह इन चीजों की ठीक-ठीक पहचान करता है कि 'यह है'। किसी का जन्म देखा तो जाना कि यह है काया, किसी की मृत्यु देखी तो भी जाना कि यह है काया। किसी शव को जलते हुए, राख होते हुए देखा तो जाना कि यह है काया। किसी जानवर की मृत देह के मांस के लोथड़े बिखरे देखकर जाना कि यह है काया। अथवा देह में उद्वेग उठे, कामवासना के तंतु जागे, इंसान फड़कने लगा, गलत काम करने लगा, भोगों में लिप्त हो गया, लेकिन इनमें भी जागरूकता रखने वाला जानेगा कि यह है काया और ये इस काया के उद्वेग हैं। जो भी हो रहा है, बस हो रहा है, कोई आरोपण नहीं करना है, निक्षेप या जबरदस्ती चिन्तन-मनन नहीं करना है, जो है उसे देखना है। सोचेंगे तो उसी के बारे में सोचते रह सकते हैं। सोचना नहीं है, करना भी कुछ नहीं है, केवल स्वयं के प्रति जागना है और जो कुछ भी हो रहा है, उसके साक्षी हो जाना है।

काया और उसके सुख-दुःख की संवेदनाओं के प्रति भलीभाँति जागरूक हो जाना है। अथवा चित्त की अनुपश्यना करने वाला, चित्त को जानने वाला, चित्त-दशाओं के प्रति जागरूक साधक जान रहा होता है कि ये संस्कार हैं, राग-द्वेष की वृत्तियों की स्मृतियाँ हैं, मोह का अंधकार है, लोभ की आकांक्षा

है, अमुक तत्त्व का अहंकार है, भीतर में तृष्णा है या इस प्रकार की कोई विक्षिप्तता है, मैं भीतर से पागल हूँ। हम सुनते हैं कि 'मैं आत्मा हूँ', 'अहं ब्रह्मास्मि', लेकिन विपश्यना करने वाला कहता है कि मैं आत्मा कहाँ। मैं ब्रह्म भी कहाँ, मैं तो तृष्णा में उलझी हुई चेतना हूँ। मैं तो वासना में, विकारों में, राग-द्वेष में उलझी हुई चेतना हूँ। कहाँ है आत्मा, कहाँ है परमात्मा ? मेरा सत्य क्या है ? परमात्मा दुनिया का, ब्रह्माण्ड का सत्य है, पर मेरा सत्य क्या है ? मेरा सत्य तो मेरे चित्त की वर्तमान दशाएँ हैं।

अनुपश्यना के चार चरण हैं- (1) काया, (2) काया के संवेदन, (3) चित्त और (4) हमारे मूलभूत धर्म। शुरुआत साँसों से है, आनापान से है, आती-जाती साँसों पर सचेतन होने से है। इस मार्ग पर न मंत्र है, न मूर्ति है, न कोई आरोपण है, न आलम्बन। यहाँ न पंथ है, न परम्परा। न वेश है, न गणवेश है। बस, तीन ही आधार हैं, तीन ही माध्यम हैं- (1) एकान्त, (2) मौन और (3) ध्यान। शान्त, एकान्त में बैठो ताकि बाहर का शोरगुल, बाहर के निमित्त प्रभावित न करें। मौन रखो ताकि बाहरी संवाद, बाहरी सम्बन्धों पर अंकुश लगे और हम अपने स्वयं के एकत्व के प्रति अधिक जागरूक हों। ध्यान धरें अर्थात् आतापी, स्मृतिमान और सचेतन होकर पूरे मनोयोग से विपश्यना करें, खुद को देखें, खुद को जानें, खुद के साथ एकरस, एकलय, एकाकार होते जाएँ। बन्द द्वार खुद खुलेंगे, सूरज खुद उगेगा, स्वयं में छिपे मन्दिर स्वतः साकार होंगे।

हम पहले स्थूल को जानेंगे, फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म की ओर प्रयाण करेंगे। बाहर से भीतर की ओर जाने का प्रयास करेंगे। तत्त्व को समझने पर बाहर और भीतर की जागरूकता बढ़ेगी। विपश्यना देहरी का दीप बनकर हम सबके बाह्य और अन्तर को प्रकाशित करे, इसी मंगलभावना के साथ नमस्कार।



4

विपश्यना में चाहिए सचेतनता, निरन्तरता

प्रत्येक इंसान के अन्तरमन में किसी-न-किसी प्रकार का क्रोध, रोष, चिन्ता, तनाव, अवसाद हावी रहते ही हैं। थोड़ी-सी विपरीतता आते ही हम अपना आपा खो देते हैं। ज़रा-सी विफलता से तनावग्रस्त हो जाते हैं। नुकसान हो जाने पर चिन्ता का चक्रव्यूह रच जाता है। माना कि हम सभी को प्रेम और शांतिमय जीवन का स्वामी होना चाहिए, सबके प्रति करुणा और क्षमा का सद्भाव रखना चाहिए, यह तो जीवन का आदर्श है, लेकिन क्रोध और रोष, दुःख और दौर्मनस्य, वैर और विरोध हमारे जीवन में जब-तब उठ जाते हैं, यह सच्चाई है। सच्चाई और आदर्शों में फ़र्क़ होता है। हमें क्रोध आता है, यह सच्चाई है। हमें प्रेमपूर्ण रहना चाहिए, यह आदर्श है। आदर्श वह जो हमें प्राप्त करना है और सच्चाई वह जिससे हम अपने वर्तमान में गुजर रहे हैं। प्रश्न है जिन हकीकतों से हम धिरे हुए हैं क्या वे हमारे जीवन में यूँ ही बनी रहेंगी या इन्हें अपने जीवन से हटाने में हम सफल हो सकते हैं या हटाने के लिए कोई रास्ता तलाश सकते हैं ? अतीत में जन्मों-जन्मों से क्रोध करते रहे, कामातुर बने रहे,

अपने अहंकार का पोषण करते रहे, राग-द्वेष में उलझते रहे, अपनी इन्द्रियों के विकारों से ग्रस्त रहे। इन आदतों को जिन्हें अतीत में जिया है, क्या इन आदतों को अपने साथ ही बनाए रखना चाहते हैं या इनमें परिवर्तन की दिशा धारण करना चाहते हैं ?

सौभाग्यशाली ही अपने जीवन की कमियों और दोषों पर गौर कर पाते हैं और उन्हें हटाने के लिए जागरूक होते हैं, अन्यथा कई तो अमृत के गड्डे में गिरकर भी कीचड़ ही चाटते रहते हैं। लेकिन वे सौभाग्यशाली हैं, जिनका जन्म, यौवन, जीवन, पोषण भले ही कीचड़ के गड्डे में क्यों न हुआ हो, फिर भी वे अपनी आँखों में सदा प्रकाश की किरण तलाशते रहते हैं। उस अमृत की तलाश करते हैं, जिसका पान कर मुक्ति का कमल खिल सके। सभी के जीवन में मुक्ति का माधुर्य फूट सके, ऐसी सम्भावनाएँ तलाशते हैं।

कुछ लोग कीचड़ में जन्म लेते हैं और वहीं समाप्त हो जाते हैं। कुछ कीचड़ में जन्म लेकर अमृत की ओर अपने कदम बढ़ाते हैं। कुछ तो ऐसे भी होते हैं, जो जन्म तो अमृत में लेते हैं, लेकिन अपनी नज़र और निगाहों में कीचड़ को बसा लेते हैं। भव्य जीव वे होते हैं, जो अमृत में ही जन्म लेते हैं, अमृतपथ के ही अनुयायी होते हैं और अपने लक्ष्य में भी अमृत को ही बसाया करते हैं।

हमारे जीवन का यथार्थ क्या है, यह तो व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करता है। जीवन की हकीकतें कुछ और होती हैं और जुबान पर आदर्श की बातें कुछ और हुआ करती हैं। अच्छी बातें कहना अलग बिन्दु है और स्वयं का मूल्यांकन करना यह बिल्कुल अलग बात है। सामान्य तौर पर जीवन में कोई भी स्वयं को गलत रूप में पेश नहीं करना चाहता। हरेक व्यक्ति अपनी छवि को अच्छी-बेहतर-गरिमामय बनाए रखना पसन्द करेगा, लेकिन हम सभी जानते हैं कि फोटोग्राफिक चेहरा भी एक्स-रे में कैसा नजर आता है। यह हम सभी के जीवन की हकीकत है। जन्मों-जन्मों से हमारे साथ ऐसी आदतें लगी हुई हैं, कषायों की ऐसी धाराएँ बहती रही हैं, संस्कारों का ऐसा प्रवाह चलता रहा है, इन्द्रिय-विकारों के धर्म हम पर ऐसे हावी रहते हैं कि इनके सामने हमारा सारा ज्ञान, बोध, संयम, वेश, व्रत, संकल्प सभी कुछ बहुत बौने नज़र आते हैं। बाहर का उजलापन भीतर की कालिमा के सामने छोटा पड़ जाता है। यह तो कोई सूरज उगे तो प्रकाश हो सकता है नहीं तो क्या तारों से दुनिया रोशन हो सकती है ! हम सभी के भीतर वह तमन्ना चाहिए, वह तपिश चाहिए, वह जागरूकता चाहिए

कि हमारे भीतर वास्तविक रूप से बुद्धत्व का कमल, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि का कमल खिल सके। जिनके भीतर अपने कल्याण की कामना है, वे बुद्धत्व के इस मार्ग पर आएँ। जो अपने भीतर के दुःख और दौर्मनस्य का नाश करना चाहते हैं, वे लोग इस पवित्र मार्ग पर अपने कदम बढ़ाएँ। जिन्हें वास्तव में अपने सत्य से साक्षात्कार करने की चाहत है, वे इस पथ पर प्रगति करें। जो हकीकत में महापरिनिर्वाण का स्वाद चखना चाहते हैं, निर्वाण और मोक्ष को उपलब्ध करना चाहते हैं, उनके लिए बुद्ध और महावीर का यह मार्ग निश्चित ही कल्याणकारी हो सकता है। यह मार्ग उनके लिए है, जो इस पर चलकर परिणाम प्राप्त करना चाहते हैं। जो व्यक्ति दिन-रात, सच-झूठ करके धनार्जन करता है, उसके लिए महावीर के मोक्ष-मार्ग की कोई उपयोगिता नहीं है। वह व्यक्ति जो पाप और व्यभिचार के दलदल में गड़ा हुआ है, ऐसा व्यक्ति राम के मार्ग को अपने जीवन में कैसे जी सकेगा। जीना तो हम बुद्ध की शांति और करुणा के मार्ग को चाहते हैं, लेकिन एक कसाई बुद्ध के मार्ग को समझकर भी क्या कर लेगा। एक भोगी भोग के रास्ते योग के द्वार कैसे खोल सकेगा। व्यक्ति के भीतर जब तक अध्यात्म की गहन पिपासा न होगी, चाहत न होगी, तब तक व्यक्ति उसे समझ तो सकता है, बोल भी सकता है, पर जी नहीं सकता, अपने जीवन का हिस्सा नहीं बना सकता।

जीवन में कुछ मार्ग वास्तविक रूप से इंसान के कल्याण से, आध्यात्मिक कल्याण से जुड़े होते हैं। ये कोई ऐसे मार्ग नहीं हैं, जो स्वर्ग दे दें या नर्क से बचा लें। सच पूछो तो स्वर्ग और नर्क प्रतीकात्मक हैं, बाकी इन्हें किसने देखा है। पाताल के नर्क और आकाश के स्वर्ग, ये सब बड़े रहस्यमयी हैं। कितनी विचित्र बात है, जिस स्वर्ग को हमने देखा नहीं, उसे पाना चाहते हैं और इसी तरह जिस नर्क को देखा नहीं, उससे बचना चाहते हैं। जहाँ तक मेरा ख्याल है, स्वर्ग और नर्क किसी भौगोलिक व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं हैं। मेरी दृष्टि में तो ये दोनों आँखों की तरह हैं, जिसमें एक में आँसू और दूसरी में खुशियाँ होती हैं। जैसे कि दो हाथ और दो पाँव जिसमें एक पाँव और हाथ में निकम्मापन समाया रहता है, दूसरे पाँव और हाथ में कर्मयोग और सफलता के गुर छिपे रहते हैं। स्वर्ग और नर्क हमारी ही परिणतियाँ हैं, अगर आज क्रोध किया तो नर्क में गए और प्रेम किया तो स्वर्ग में रहेंगे। स्वर्ग और नर्क एक सिक्के के दो पहलू हैं, जो साथ-साथ चलते हैं। धर्म की इस भाषा को बदलना चाहिए कि क्रोध करने से नर्क में

जाओगे, मेरे लिए तो क्रोध करना नर्क में ही होना है। प्रेम करने से स्वर्ग मिलेगा— ऐसा नहीं है। मेरे लिए तो प्रेम करना स्वर्ग में होना ही है। अर्थात् ऐसा करने से ऐसा होगा, यह भाषा कहने की बजाय हम कहेंगे ऐसा करने से ऐसा होता है। यह हमारा यथार्थ है। क्रोध क्रिया अर्थात् दिल जला, दिमाग कमजोर हुआ, आँखें लाल हुईं, तन की ताजगी कटी अर्थात् जितने प्रतिशत क्रोध क्रिया, उतने प्रतिशत नर्क का फल उपलब्ध हो गया और जितने लोगों से मिठास के साथ पेश आए, जितने लोगों के साथ आतिथ्य-सत्कार का भाव रखा, जितने लोगों को प्रणाम कर आशीर्वाद लिए, उतने-उतने प्रतिशत स्वर्ग का आनन्द स्वयं ने भी लिया और दूसरों को भी हमसे मिला। मेरे लिए तो यही स्वर्ग और नर्क है।

हम किसी पाताल में बने नर्क से बचने की बजाय हमारे अन्दर क्रोध, रोष, भोग, विकार-वासना के रूप में जो नर्क पल रहा है, उसमें बहने से बचें, उसमें जलने से बचें। हम तो नन्दनवन की तैयारी करें। ऐसा नन्दनवन, जहाँ महावीर ने संन्यास लिया था, जिसे स्वर्ग के उपवनों की उपमा दी गई। उस वन में प्रविष्ट हो जाएँ, जहाँ महावीर की ही तरह संन्यासी होने की प्रेरणा मिल सके। जिस रास्ते पर चलने से आध्यात्मिक कल्याण का रास्ता खुल सके, वही वन नन्दनवन हो जाएगा। इंग्लिश का शब्द है 'वन' (One) अर्थात् एक। विपश्यना यही तो सिखाती है कि एकला चलो रे। यह अकेले होकर चलने का रास्ता है। कोई साथ चले तो स्वागत और न भी चले तो एकला चलो रे।

‘यदि तोरे डाक सुने कोई न आसे तो एकला चलो रे।’

रवीन्द्रनाथ टैगोर की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं कि अगर तुम्हारी पुकार सुनकर भी कोई तुम्हारे साथ चलने को तैयार न हो तो चिन्ता मत करो, तुम अकेले ही चल पड़ो। हो सकता है, आज तुम अकेले हो, लेकिन आने वाले कल का सूरज तुम्हारा साथ दे सकता है। पूरे ज्योतिर्मय संघ का निर्माण हो सकता है। यह मार्ग जो 'महासति पट्टान' का है— भगवान बुद्ध द्वारा दिया गया महान संदेश है। भगवान बुद्ध ने अपने साधकों और श्रावकों को विपश्यना के सन्दर्भ में जो उपदेश दिया हम भी इन सूत्रों में डूबेंगे, इनका आनन्द लेंगे, इनमें से अपने लिए कोई रसधार निकालेंगे। जैसे हजारों वर्ष पूर्व साधकों ने इस मार्ग पर चलकर परम सत्य से साक्षात्कार किया था, अपने दुःख और दौर्मनस्य का अवसान किया था, स्वयं को विकारमुक्त किया, ऐसे ही हम लोग भी मुक्त हो

सकते हैं। हम भूल जाएँ कि कौन यहाँ बैठा है और कौन किससे क्या कह रहा है। हम बस याद रखें, उस शरद की रात्रि को, मन्द बयार को और बुद्ध के मुख से झरते वचनों को, जो जीवन-कल्याण के आत्मसंवाद हमारे साथ हो रहे हैं। जैसे शरद की चाँदनी सबको सुहाती है, वैसे ही यह मार्ग भी हम सबको सुहाएगा। लोग तो पति-पत्नी के साहचर्य को हनीमून समझते हैं, पर मैं कहता हूँ कभी किसी बुद्ध के साथ, किसी महावीर के साथ, किसी गुरु या सद्गुरु के साथ बैठकर भी हनीमून मनाओ। तब पता चलेगा एक शहद टपकाता चाँद, ज्ञान का शहद टपकाता चाँद हमारे जीवन में अद्भुत मिठास, अद्भुत रस, अद्भुत प्रेम और अद्भुत अन्तर्दृष्टि संचारित कर रहा है।

यह मार्ग थोड़ा कठिन अवश्य है, पर दुरुह नहीं है। मुझे लोग बताते हैं कि कभी-कभी तो साधना की भूमिका बहुत गहरी हो जाती है और कभी खुद ही ठंडे पड़ जाते हैं। मैं समझता हूँ, ऐसे ठंडे लोगों के लिए ही ये बातें हैं। जो लोग भीतर से गरम हो चुके हैं, यह वाणी उन्हें ठंडा करेगी और जो भीतर से ठंडे हो चुके हैं, यह वाणी उनकी सोई हुई चेतना को, आत्मा को जगाएगी। उत्साह की नई ऊर्जा जगाएगी। हम जानते हैं गौतम ने संन्यास स्वयं ग्रहण कर लिया और जंगलों में प्रतिदिन चावल का एक दाना खाकर अपने दिन व्यतीत करने लगे। उन्होंने इतनी सघन तपस्या की कि अस्थियों का ढाँचा मात्र रह गए। व्यक्तिगत रूप से मैं इस तरह की तपस्या में विश्वास नहीं करता कि जिसमें व्यक्ति अपने तन को सुखाने में ही तत्पर करे। मेरा मानना है कि तप का उद्देश्य अपने अन्तरमन को तपाना है। अपने इन्द्रिय-द्वारों को तपाना, मन में रहने वाले कषायों को तपाना ही सच्ची तपस्या है। हमारे भीतर जो कर्म-बीज बनते रहते हैं, उन्हें भून (जला) डालना- इसका नाम तपस्या है। लेकिन हम लोग मन की तपस्या नहीं, तन की तपस्या करते रहते हैं। जब मैं किसी साधक को तन की तपस्या करते हुए देखता हूँ तो मन में भाव उठते हैं कि ईश्वर इसे सद्बुद्धि दे कि वह केवल तन को नहीं अपने मन को, अपनी आत्मा को तपाकर दिखाए। तन तो साधन है, लेकिन असली तपस्या तो मन की करनी है।

मैं अमुक दिन 24 घंटे तक क्रोध नहीं करूँगा, यह मन की तपस्या हुई। चाहे तो आप भी कर सकते हैं कि मैं हर अमावस और पूर्णिमा को उपवास करूँगा, पर उपवास भोजन के त्याग का नहीं, क्रोध के त्याग का। भोजन के त्याग का उपवास हर कोई नहीं कर सकता, पर क्रोध के त्याग का उपवास हर

कोई कर सकता है। तपस्या का उद्देश्य है, तन-मन पर लगाम लगाना, भीतर की शुद्धि करना। इसी तरह आप चाहें तो शील धर्म के पालन का उपवास कर सकते हैं। जैसे मैं हर महीने की 1, 5, 11, 15, 21, 25 और 31 तारीख को शील-धर्म का पालन करूँगा, अगर आप ऐसा करते हैं तो आपको 1 महीने में 7 उपवास का लाभ हो गया। ये सब मन के उपवास हैं। जैसे अगर आप एक महिला हैं तो आपके पास 100 साड़ियाँ होंगी, आप अपरिग्रह का उपवास कर सकती हैं। माना आपसे साड़ियों का मोह नहीं छूटता, कोई बात नहीं, भले ही हर महीने नई साड़ी खरीदो, पर एक मानसिकता तैयार कर लो कि मैं नई साड़ी खरीदते ही पुरानी साड़ियों में से 1 साड़ी किसी गरीब को या घर में काम करने वाली बाई को दे दूँगी। यह भी अपने-आप में तप हो गया। बुद्ध कहते हैं हम तपस्वी बनें, आतापी बनें। महज 8-8 दिन या 30-30 दिन भूखे रहने को तपस्या न मानें। तपस्या मन की भी हो, तपस्या जीवन की हो। वीणा के तारों को हमेशा याद रखिए और जीवन को वीणा के तारों की तरह सार्धें और इस तरह जीवन का आनन्द लें।

सिद्धार्थ को तपस्या करते हुए पाँच-साढ़े पाँच वर्ष बीत गए। जैसा कि उस समय चलन था, सघन तपस्या करते चले गए। लेकिन एक दिन महसूस हुआ कि बहुत तपस्या कर ली, लेकिन हासिल कुछ न हुआ। न आत्मा मिली, न आत्मदर्शन हुआ, न ही किसी त्रिकालिक सत्य का बोध हो पाया। सोचा छोड़ो, बहुत हो गई साधना। पत्नी को छोड़ा, बच्चे को छोड़ा, राजमहलों को छोड़ा और निर्जन एकाकी वनों में जाकर तपस्या कर इतने वर्ष व्यतीत कर दिए, अखंड मौन रहा, तन-मन को तपाया, ध्यान-साधना की, फिर भी संतोष न हुआ। अर्हता, अरिहंत पद, बुद्धत्व या संबोधि उन्हें उपलब्ध न हो सकी। तब वे इन सबको छोड़कर बाहर निकल आए। दूर देखा तो तालाब, झील थी। वहाँ जाकर स्नान करने का विचार किया। गौतम झील के पास पहुँचे, स्नान किया, कुछ ताज़गी आई। स्नान कर जब झील से बाहर निकले तो उनकी नज़र एक गिलहरी पर गई। उन्होंने देखा कि वह गिलहरी झील में जाती है, पूँछ को डुबोती है और बाहर आकर पूँछ झटकती है, उसमें से कुछ बूँदें पानी की टपक जाती हैं। उसे बार-बार इसी क्रिया को दोहराते देखकर उन्हें विस्मय हुआ और उन्होंने गिलहरी से पूछा- एक बात बताओगी ? गिलहरी ने कहा- पूँछिए महात्मन् ! गौतम ने कहा- मेरे मन में जिज्ञासा उठ रही है कि तुम बार-बार पानी में जाती

हो, पूँछ डुबाती हो और बाहर आकर झटक देती हो, आखिर तुम ऐसा क्यों कर रही हो ?

गिलहरी ने कहा- महात्मन्, बात यह है कि ये झील बहुत दुष्ट है ।

गौतम बोले- दुष्ट कैसे ?

गिलहरी ने कहा- इस रूप में दुष्ट है कि दो दिन पूर्व इसने मेरे अंडों को अपने पानी के बहाव में बहा डाला । वे अंडे फूट गए और मेरे बच्चे मर गए । यह वह झील है, जिसने मेरे बच्चों की हत्या की है, मैं इस झील को सुखा डालूँगी ।

उन्होंने पूछा- कैसे सुखाएंगी ?

मैंने निर्णय कर लिया है कि इस झील में पूँछ डुबाऊँगी और बाहर आकर पानी के छींटे गिराऊँगी, गिलहरी ने बताया । गौतम मुस्कराए और बोले- यह तो ठीक है, लेकिन झील इतनी बड़ी है और तुम्हारी पूँछ इतनी छोटी है, बिना बर्तनों के तुम इस झील को कैसे खाली कर सकोगी ? जरा सोचो, इस झील को खाली करने में तुम्हें कितने जन्म लग जाएँगे ।

गिलहरी ने कहा- महत्वपूर्ण यह नहीं है कि इस झील को खाली करने में कितने जन्म लगेंगे, महत्वपूर्ण यह है कि मैं इस झील को खाली करके ही रहूँगी, इसके लिए भले ही मुझे सौ जन्म क्यों न लेने पड़े । जब तक मेरे शरीर में प्राण हैं, इस झील को सुखाने का प्रयत्न करती रहूँगी ।

बुद्ध मुस्कराए और गिलहरी को धन्यवाद देते हुए कहा- बहन, तुम्हें बहुत-बहुत साधुवाद है, क्योंकि तुमने मेरी भटकती हुई चेतना को रास्ता दिखाया है । मैं तो ठंडा हो चुका था कि अब कुछ होने वाला नहीं है, लेकिन तुमने मेरी ठंडी हो चुकी चेतना को फिर से जगा दिया है ।

कहते हैं तब बुद्ध पुनः कंदराओं की ओर मुड़ गए और दुगुने उत्साह से साधनारत हो गए ।

महावीर और बुद्ध के ऐसे ही कोई गुरु बन जाते हैं, जो उन्हें प्रेरणा दे जाते हैं । केवल हम ही नहीं बुद्ध, महावीर, राम भी अपने पथ से भटक सकते हैं, तब इसी तरह कोई गिलहरी, कोई साँड, कोई अन्य उनके पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं । हम नहीं जानते जीवन में कब कौन गुरु बन जाता है और गुरुत्व की भूमिका अदा

करते हुए सोई हुई चेतना को जगा देता है, भटकी हुई चेतना को फिर से सम्यक् मार्ग प्रदान कर जाता है।

जिन्हें चेतना की प्यास है, उन्हें इस मार्ग पर आने का आमंत्रण है। 'महासति पट्टान सुत्त' में भगवान बुद्ध ने अपने साधकों से इसी प्यास को बुझाने वाले संदेश कहे थे। यह अत्यन्त छोटा शास्त्र है। लेकिन इसमें साधना की वह गहरी पद्धति दी गई है, जो हमें प्रत्येक दिन के, प्रत्येक क्षण के वर्तमान सत्य से मुखातिब करवाती है। इस पद्धति में ऊँची या लम्बी-चौड़ी बातें नहीं हैं, वरन् खुद से खुद की मुलाकात है। आइए, हम लोग बुद्ध के नज़दीक जाकर अपने अन्तर-कमल को उनके श्रीचरणों में इस सद्भाव के साथ समर्पित करते हैं कि उनके बुद्धत्व की किरण हमें भी रोशन करे, हमें भी सुगंधमय बनाए, हमें भी खिलने का अवसर प्रदान करे।

बुद्ध ने पवित्र वाणी कही- 'यहाँ कोई साधक साढ़े तीन हाथ के कायारूपी लोक में, राग और द्वेष को दूर कर, आतापी, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, वह राग और द्वेष को दूर कर आतापी, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन वेदनाओं में वेदानुपश्यी होकर विहार करता है, राग और द्वेष को दूर कर आतापी, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन चित्त में चित्तानुपश्यी होकर विहार करता है और वह राग और द्वेष को दूर कर आतापी, स्मृतिमान और संप्रज्ञानी बन धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करता है।'

भाषा पुरानी है, लेकिन इसके भावों में साधना की ढेर सारी बारीकियाँ समाई हुई हैं। साधक के सामने चार सत्य हैं, पहला सत्य है- उसकी काया, दूसरा सत्य है- काया में उठने वाली वेदना और संवेदना अर्थात् काया में उठने वाले उपद्रव, काया के प्रपंच। साधक के सामने तीसरा सत्य है- उसका अन्तरमन, उसका चित्त, चौथा सत्य है- भीतर का धर्म। जब कोई साधक इन चार सत्यों से साक्षात्कार करता है, तब इनसे वह अपने मूल अस्तित्व और अपनी अन्तरात्मा से सेतु सम्बन्ध स्थापित करता है।

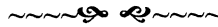
काया स्थूल तत्त्व है। जब इससे सूक्ष्म की ओर जाते हैं, तब काया की वेदनाओं का अनुभव ज्ञान में आता है। अधिक गहराई में जाने पर चित्त से परिचित होते हैं, जिससे प्रेरित होकर काया समस्त व्यापार किया करती है। चित्त की प्रेरणा से ही काया की समस्त गतिविधियाँ संचालित होती हैं। चित्त से ही

हमारी इन्द्रियाँ भी प्रेरित और प्रभावित होती हैं। चौथा सत्य धर्म है। मूल शब्द है 'अनुपश्यना'। बुद्ध और महावीर ने इस शब्द का खूब प्रयोग किया है। बुद्ध ने साढ़े छः वर्ष तक और महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक जंगलों में क्या किया ? उस सारी स्थिति को एक ही शब्द में पिरोया जा सकता है और वह है 'अनुपश्यना'।

'अनुपश्यना' अर्थात् विशेष रूप से देखना, लगातार देखना, अपनी प्रकृति के साथ अपनी मुलाकात करना। स्वयं से मुलाकात कठिन होती है, क्योंकि हमारा चित्त बाहर से मुलाकात करने के लिए तत्पर हो जाता है और हम बाहर चले भी जाते हैं, लेकिन फिर-फिर मन को, चित्त को अपने में लाते हैं और स्वयं से मुलाकात करने में तत्पर होते हैं। हमारी इन्द्रियों के रास्ते बाहर की ओर खुलते हैं। मन की गतिविधियाँ बाहर चलती हैं। इन इन्द्रियों को स्वयं से जोड़ने के लिए, अपने भटकते हुए चंचल चित्त को अन्दर लाने के लिए स्वयं से प्रतिक्रमण करना होगा, स्वयं में लौटना होगा। 'लगातार' शब्द बहुत मूल्यवान है। विद्यार्थी को विद्यार्जन करने के लिए लगातार अध्ययन करना होगा। लगातार लगे रहने पर मंदबुद्धि और जड़बुद्धि भी महाकवि कालीदास और उद्भट विद्वान बन सकता है। पैसा कमाना भी कोई सरल काम नहीं है, लेकिन व्यापारी लगातार सुबह से रात तक लगा रहता और कमाई कर पाता है। केवल बुद्धि या लक्ष्य निर्धारित कर लेने से ही कमाई नहीं हो जाती। इसके लिए 'लगातार' मेहनत करनी होती है। केवल आत्म-विश्वास जगाने से सफल नहीं हुआ जा सकता, न ही कार्य-योजना बना लेने से सफलता मिलती है। सफलता का आधार बिन्दु है 'लगातार' लगे रहना। व्यापारी सफल होगा लगातार तत्पर होने से, विद्यार्थी सफल होगा लगातार विद्याध्ययन करने से। जमीन में छिपे हुए पानी को निकालने के लिए लगातार गड्ढा खोदना होगा। पत्थर भी नज़र आएँगे, उसके उपरान्त भी खोदते रहने पर ही पानी निकलेगा। साधना के लिए भी लगातार शब्द पहले। अगर हम लगातार करने के लिए तैयार नहीं हैं तो कभी भी आतापी, स्मृतिमान और संप्रज्ञाशील नहीं बन पाएँगे। घंटेभर के लिए संप्रज्ञाशील होकर घंटेभर जितना ही परिणाम निकाल पाएँगे। आधा घंटा ध्यान कर लेने पर कुछ खास हासिल नहीं हो पाएगा। कुआँ खोदना है तो लगातार खोदना ही पड़ेगा।

'लगातार' की चाबी पकड़ लेने पर कदम-दर-कदम आगे बढ़ते जाएँगे।

जैसे-जैसे हम अपने भीतर साक्षी होते हैं, त्यों-त्यों भीतर में शान्ति आती चली जाती है। जिसका उदय है, उसका विलय अवश्य होता है और तब तक साधक जान लेता है कि सब कुछ यहाँ अनित्य है। न वो था, न यह है, न वो रहेगा, यहाँ सब कुछ बदल रहा है। हम ही राग-द्वेष के निमित्त खड़े करते हैं, बाकी तो यहाँ सब कुछ बदल रहा है। व्यक्ति बदल रहे हैं, विचार बदल रहे हैं, शब्द बदल रहे हैं, वाणी बदल रही है, व्यवहार बदल रहा है, आदतें बदल रही हैं, चरित्र बदल रहा है, जीने के तौर-तरीके बदल रहे हैं, भीतर में उठने वाली तरंगें बदल रही हैं, भीतर के उपद्रव बदल रहे हैं, भीतर के उद्वेग, कषाय, संस्कार सब कुछ यहाँ बदल रहे हैं। इन बदलते हुए तत्त्वों की अनुपश्यना करते हुए साधक भलीभाँति जानता है कि यहाँ सब अनित्य है, परिवर्तनशील है। तब राग-द्वेष को दूर करके अनुपश्यना करने वाला साधक आतापी, स्मृतिमान और संप्रज्ञाशील बना हुआ विहार करता है, अपना सहज जीवन जीता है, स्वयं के प्रति जागरूक होकर जीवन और जगत में घटने वाली घटनाओं के प्रति जागरूक होकर सत्य से साक्षात्कार का लक्ष्य रखता है, निर्वाण, दुःख-दौर्मनस्य के अवसान से साक्षात्कार के प्रति लगा हुआ रहता है। तब वह जीता है, विहार करता है, आनन्दित रहता है। तब वह मुक्त होकर बाहर और भीतर से जीवन जीता है। साधक को आतापी, स्मृतिमान और संप्रज्ञाशील हो जाना चाहिए, ताकि राग-द्वेष हमारे जीवन से मिट सकें और हम वास्तविक सत्य से जुड़ सकें। आतापी, स्मृतिमान, संप्रज्ञाशील अर्थात् सचेतनता- ये तीन शब्द याद रखें, इन्हें आत्मसात् कर लें। ये शब्द नहीं हैं, साधक के तीन नेत्र हैं। हम साधना में तपें, आत्मस्मृति से परिपूर्ण बनें, हर नैसर्गिक-अनैसर्गिक क्रिया को सचेतनता से करें। विपश्यना एक द्वार है, बस कदम उठाने की जरूरत है।



5

आनापान-योग : समाधि का प्रवेश-द्वार

जीवन को बोध और जागरूकता के साथ जीना, जीने की आध्यात्मिक कला है। अबोध और प्रमाद-दशा के साथ जीना, जीवन जीने की नकारात्मक शैली है। भगवान बुद्ध और महावीर के द्वारा प्रतिपादित अनुपश्यना का सिद्धान्त विशुद्ध रूप से जीवन को जागरूकतापूर्वक कैसे जिया जा सके, इसका पवित्र रास्ता देता है। इस दौरान व्यक्ति क्रोध को दबा जाएगा और दबी हुई चीज़ आज नहीं तो कल प्रगट होगी। स्प्रिंग को जितना दबाया जाएगा, छोड़ने पर उतनी ही उछलकर आएगी। जीवन में उठने वाले भीतरी उपद्रव स्प्रिंग की तरह होते हैं, उन्हें जितना दबाया जाएगा, उनकी ताकत बढ़ती जाएगी। तब दूसरा रास्ता है कि व्यक्ति अपने विकार, क्रोध, कषाय, भोग आदि को प्रगट करे। हम देखते हैं कि प्रगट करने की भी कोई सीमा नहीं होती। अस्सी वर्ष का व्यक्ति और संन्यासी भी ताउम्र क्रोध करते नज़र आ जाते हैं।

दीर्घ समय तक साधु-जीवन बिता लेने के बाद भी अगर वह अपने क्रोध को नहीं जीत पाया तो क्या उम्मीद की जा सकती है कि वह अपने बाकी विकारों

को जीत पाया होगा। सम्भव है क्रोध को दबाता रहा हो, ऐसा भी हो सकता है कि क्रोध तो वह प्रगट कर देता रहा हो, लेकिन अन्य विकारों को भीतर-ही-भीतर दबाता रहा हो। ऐसी स्थिति में साधक के सामने प्रश्न है कि वह भोग का रास्ता अख्तियार करे या अपनी मुक्ति और निर्वाण के लिए विकारों के शमन और निर्जरा के लिए अन्य किसी मार्ग का चयन करे। अनुपश्यना के मार्ग पर चलकर हम अपने अन्दर उठने वाली वृत्तियों के उदय, उनकी प्रकृति, स्वभाव को समझें, क्योंकि वैसा हमारा स्वभाव होता नहीं है, केवल वह स्वभाव से जुड़ जाता है। हर समय एक ही चीज़ हम पर हावी नहीं रहती है। न तो हर समय क्रोध होता है, न ही भोग, न ही ईर्ष्या, न कामनाएँ, न वासनाएँ। लेकिन समय-समय पर ये हमारे अन्दर उठती रहती हैं, क्योंकि इनकी प्रकृति हमारे भीतर दबी हुई है। निमित्त पाकर प्रकृति उदय में आ जाती है। इसकी जड़ें हमारे अन्दर व्याप्त हैं, इसलिए हमें अपनी प्रकृति को समझना चाहिए। इसे हम अनुपश्यना के द्वारा जान सकते हैं।

माना कि हमारे अन्दर क्रोध की प्रकृति है, लेकिन उसे प्रगट नहीं कर पाते हैं, तो वह प्रगाढ़ हो जाती है। तब इस तरंग से बाहर कैसे निकलें ?

बोधिधर्म चीन की यात्रा पर थे। वहाँ के सम्राट ने उनसे कहा कि उसे क्रोध बहुत आता है, चित्त उद्विग्न हो जाता है। बोधिधर्म ने पूछा- तुम इस समय क्रोध में हो ? सम्राट ने कहा- नहीं। क्या चित्त अभी उद्विग्न है ? उत्तर मिला- नहीं। तब बोधिधर्म ने कहा- यह तुम्हारी प्रकृति नहीं है। तुम्हारा मूल स्वभाव नहीं है। जो चीज़ सदा बनी रहे वह प्रकृति है। ये तो तरंगें हैं, जो निमित्त पाकर उजागर हो जाती हैं और इनसे छूटने का मार्ग अनुपश्यना है।

अनुपश्यना में व्यक्ति धैर्यपूर्वक अपने चित्त की, काया की, वेदना और संवेदनाओं को देखे, वह दृष्टा बने, स्वयं का साक्षी बने और समझने तथा जानने का प्रयत्न करे कि उसके भीतर यह क्या है। हमने अतीत में न जाने कितनी बार क्रोध किया, अब भी कर रहे हैं, क्या भविष्य में भी इसी की पुनरावृत्ति होती रहेगी। जब व्यक्ति अपनी प्रकृति को तात्त्विक दृष्टि से, साक्षी होकर, प्रज्ञाशील और जागरूक होकर देखना और समझना शुरू कर देता है तब वह अपने विकारों का शमन और रेचन करने में धीरे-धीरे सफल होने लगता है। ज्यों-ज्यों बोध गहरा होता है, त्यों-त्यों अपने-आप ही हमारे आन्तरिक

उपद्रव, प्रपंच (क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, भोग, वासना) अपने-आप ही शान्त होने लगते हैं। यही तो अनुपश्यना का मार्ग है।

कोई भी मंत्र जाप बहुत देर तक नहीं कर सकते। चित्त भटक ही जाता है। ऐसी स्थिति में किसी मंत्र का जाप या स्मरण करने की बजाय अनुपश्यना में व्यक्ति खुद से ही मुलाकात करता है। जो भीतर हो रहा है, वह उसी का ज्ञाता-दृष्टा होने का अभ्यास करता है, ज्ञाता-दृष्टा होने का प्रयास करता है। यह अत्यन्त वैज्ञानिक मार्ग है, क्योंकि इसमें कुछ भी आरोपण नहीं है, जो है, जैसा है, उसके साक्षी होने की बात करता है। भीतर में अगर क्रोध है, कामनाएँ हैं, तो कुछ गलत या बुरा नहीं है, क्योंकि ये हमारे अपने हैं। व्यक्ति इन्हें जागरूकतापूर्वक देखता है। पहले चरण में घनीभूत पिंड का साक्षीकरण होता है, धीरे-धीरे पिंड में स्थित घनत्व का साक्षीकरण होता है। धीरे-धीरे यह घनत्व भी बिखरने लगता है और एक-एक अणु, एक-एक पुद्गल परमाणु, सूक्ष्म से सूक्ष्म अवस्था का भी वह साक्षी होता जाता है। देखता है, केवल देखता है और जानता है। इस क्षण 'यह है'।

इस क्षण शरीर में सुख के भोग की अनुभूति है या इस क्षण दुःख के भोग की अनुभूति है या इस समय चित्त शांतिमय है अथवा लगता है चित्त में बहुत विक्षिप्तता आ गई है, चित्त विचलित है। ध्यान करने और न करने की दोनों अवस्थाओं में चित्त उद्विग्न बन रहा है। अर्थात् चित्त का वर्तमान क्षण भीतर से पागल बना हुआ है। साधक के पास एक ही बोध होना चाहिए कि वह कुछ करता नहीं है, केवल जागरूकतापूर्वक देख रहा है, जागरूकता को साध रहा है और इस जागरूकता के दौरान जब, जहाँ, जो चीज़ हमारा ध्यान आकर्षित करती है, हमारा ध्यान वहाँ जाता है। दो स्थितियों में ध्यान जाता है- एक तो प्रमाद अवस्था में। भीतर क्या हो रहा है, इसका कुछ पता नहीं चलता, लेकिन होता रहता है, दूसरे में व्यक्ति अप्रमत्त होकर, अप्रमाद दशा के साथ पूर्ण सचेतन है तो शरीर में होने वाले प्रत्येक उदय-विलय को अनुभव करता है। साँस चलती है, दिल की धड़कन होती है, शरीर में जब जहाँ जो हो रहा है, प्रयासपूर्वक ध्यान केन्द्रित करने से हर तरह का उदय-विलाप अनुभव में आता है। एक तो हम काया में प्रयासपूर्वक ध्यान ले जाते हैं, दूसरा अनायास ध्यान साधना है। प्रयासपूर्वक किया गया ध्यान एकाग्रता है और अनायास होने वाली एकाग्रता ध्यान है।

हमारे भीतर हर समय कुछ-न-कुछ हो रहा है। प्रकृति मौन नहीं रहती, कुछ-न-कुछ चलता रहता है, प्रकृति निरन्तर विकासमान है। देह में भी एक का उदय, एक का विलय जारी रहता है। हम एक उदय के विलय को देख भी नहीं पाते कि अचानक चित्त की किसी अन्य धारा में बहने लग जाते हैं, चित्त के साक्षी बन पाएँ इसके पहले ही बाहर में आवाज़ होती है और हमारा ध्यान उधर बँट जाता है। अनुपश्यना करने वाला व्यक्ति उसके भीतर-बाहर जो घट रहा है, उसका अधिक से अधिक साक्षी दशा को साधता रहता है। इसीलिए तीन खास शब्दों पर जोर दिया गया- आतापी, संप्रज्ञाशील और स्मृतिमान। अनुपश्यना और इन तीनों शब्दों को एक साथ जोड़ लेना चाहिए। एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह ध्यान रखें अगर इनमें से कोई भी एक शब्द हटा दिया तो बचे हुए शब्द बेकार हो जाएँगे।

आतापी- तपने वाला, परिश्रम करने वाला। साधक स्वयं के लिए परिश्रमी नहीं होगा तो अनुपश्यना कैसे होगी। आतापी स्वयं के प्रति होना है। सूरज में नहीं तपना है और न ही पंचाग्नि तप करना है। आतापी वह जो धैर्यपूर्वक स्वयं के प्रति परिश्रम करे। जो हमारे भीतर हो रहा है, उसे साक्षी होकर देखना। चौबीस घंटे हम एक ही भाव या क्रिया में स्थिर नहीं रह सकते। समय-समय पर चित्त बदलता रहता है। आतापी व्यक्ति उस समय देखता और जानता है कि 'यह है' जो उदय और विलय में आ रहा है। अपमान और सम्मान की प्रकृति का उदय होने पर हमें हाकोचु की कहानी याद रखनी चाहिए- Is that so ! ओह, तो ऐसा है ! ठीक है।

होकोजु पर लांछन लगाया गया कि अमुक युवती के गर्भ में उसका बच्चा है, जो पैदा होने पर उसे रखना होगा। होकोजु ने अपने कर्म की गति जानकर इस अपमान को यह कहते हुए स्वीकार कर लिया कि अच्छा ऐसा है (Is that so) ठीक है। कुछ वर्षों बाद जब लोगों को पता चलता है कि वे गलत थे, उनसे भूल हो गई, तब वे पुनः होकोजु के पास जाते हैं और कहते हैं आपके पास जो बच्चा है, वह आपका नहीं अपितु किसी मछली व्यापारी का है, कृपया आप उसे वापस दे दीजिए। तब भी होकोजु यही कहते हैं- अच्छा ऐसा है। ठीक है। इस समय कर्म की अमुक प्रकृति का उदय है तो ठीक है।

यही तो मुक्ति का मार्ग है। इस मार्ग में कभी काया की प्रकृति, कभी चित्त, कभी कर्म, कभी जगत की प्रकृति उदय में आती रहती है। वर्षों वर्ष बुद्ध

ने यही तो किया प्रकृति को जानते, समझते रहे। तब ज्ञानी लोगों ने चार अनुप्रेक्षाएँ दी थीं— अनित्य, अशरण, एकत्व और अन्यत्व। प्रत्येक पदार्थ अनित्य है— यह शाश्वत बोध हमें हो जाना चाहिए। यहाँ कोई भी शरणभूत नहीं है। हम सभी यहाँ संयोगाधीन हैं। आज हमारा संयोग है, तो हम यहाँ हैं, कल हो सकता है संयोग टूट जाए और हम चले जाएँ। हममें से किसी का संयोग सनातन नहीं है। हम सभी का जीवन चिड़िया के नीड़ के तिनकों के स्वरूप की तरह है, जो आपस में गुथे हुए हैं, लेकिन कब कौनसा तिनका बिखर जाए या गिर जाए कोई नहीं जानता। इसलिए अनुपश्यना का साधक यह भलीभाँति जान-समझ लेता है कि प्रकृति की इस व्यवस्था में सभी कुछ परिवर्तनशील है। अनित्य है।

बुद्ध का शाश्वत वाक्य है— अणिच्चं। सभी कुछ अनित्य है। महल खंडहर हो जाते हैं, खंडहर फिर महल बन जाते हैं। यहाँ राजा को रंक और रंक को राजा बनते देखा जाता है। दुनिया तो पहिए की तरह है, कब कौन-सी तूली ऊपर आ जाए और कब कौनसी नीची चली जाए, पता नहीं चलता। यहाँ सब कुछ अनित्य है। कल जिस घर में बच्चे के जन्मने पर थाली बज रही थी, आज वहीं पर किसी का जनाज़ा निकलने पर शोक-क्रन्दन है। जिस शरीर पर कल तक गुमान कर रहे थे, आज वही पेरालिसिस के कारण लटका पड़ा है। इसीलिए बुद्ध कहते हैं— अणिच्चं। यहाँ सब कुछ अनित्य है, कुछ भी शाश्वत नहीं। साधक को आतापी होना चाहिए, उसे अपने भीतर अधिक से अधिक साक्षी दशा को विकसित करने का प्रयत्न और अभ्यास करना चाहिए। मोक्ष की प्राप्ति के लिए हमें आतापी होना है। अगर हम साँस भी ले रहे हैं तो उसके प्रथम छोर से अन्तिम छोर तक जागृत होना है। श्वास लेने के और छोड़ने के मध्य होने वाले परिवर्तनों का साक्षी होना है। श्वास के उदय और विलय के बीच उसके संवेदन, उसके स्वरूप, आकार, प्रकृति, नित्यता और अनित्यता का बोध इनके प्रति साधक की प्रज्ञा का जागना संप्रज्ञाशीलता कहलाती है।

हम अनित्यता के बोध से रूबरू हों। साक्षी दशा का उदय तभी होगा, मोह और मूर्च्छाएँ तभी टूटेंगी।

श्वास के प्रति जागृति धीरे-धीरे जीवन में प्रत्येक कार्य, अवस्था के प्रति जागृति लाती है। हमारी अवेयरनेस जीवन में बढ़ती जाती है। अन्य कुछ हो रहा

हो या न हो रहा हो श्वास का उदय-विलय तो हर समय घटित होता ही रहता है ।

हम साँसों पर ध्यान धरकर, साँसों पर सचेतन होकर, साँसों में डूबकर अपने आप में डूब सकते हैं । चेतना स्वयं साँस लेती है । साँस स्वयं चेतना तक पहुँचने का पथ है । हम साँस की हर लहर पर, हर आवागमन में स्थिर हों, संप्रज्ञाशील हों । आत्मदर्शन के द्वार स्वतः खुलने लगेंगे ।

कहते हैं— सन्त बालशेम प्रतिदिन नदी किनारे जाया करते थे, वहाँ ध्यान करते । रात में ग्यारह-बारह बजे वहाँ पहुँचते और तीन-चार बजे वापस अपनी कुटिया में लौट आते । रास्ते में जंगल भी आता, वहाँ एक राजमहल था । राजमहल के बाहर पहरेदार चौकीदारी किया करते । एक चौकीदार ने सोचा यह कौन व्यक्ति है, जो रोज रात को नदी की ओर जाता है । एक रात उसने उनका पीछा किया कि यह कौन है, क्या करता है, चोरी-छिपे कोई गड़बड़ तो नहीं करता । उसने देखा कि बालशेम तो कुछ करते ही नहीं । बस नदी किनारे जाकर बैठ गए । दो-चार घंटे, जब तक उनका मन करता है, वहाँ बैठते हैं और फिर वापस आ जाते हैं । उसने पंद्रह-बीस दिन तक यही देखा और एक दिन संत को रोक ही लिया, कहा- महाराज, जरा ठहरो । बताएँ आप कौन हैं, क्या करते हैं ?

बालशेम चौंके, रुके और बोले- मैं अपना परिचय दूँ, इससे पहले तुम अपना परिचय दे दो कि तुम कौन हो । उसने कहा- मैं तो एक पहरेदार हूँ, चौकीदारी करता हूँ, पर तुम कौन हो । बालशेम ने कहा- तुमने ठीक पहचान दी । मैं भी अब तक दूँढ रहा था- मैं कौन हूँ, पर तुमने ठीक पहचान दी । तुम भी पहरेदार हो और मैं भी एक पहरेदार हूँ । उसने कहा- तुम भी पहरेदार हो, कहाँ की चौकीदारी करते हो । बालशेम ने कहा- तुम किसका पहरा देते हो यह बता दो । वह बोला- मैं तो राजमहल का पहरा देता हूँ । कौन भीतर जाता है, कौन बाहर आता है, इसका ख्याल रखता हूँ । ठीक ढंग से चौकीदारी करता हूँ । बालशेम ने कहा- यही मेरा भी परिचय है, मैं भी ऐसा ही पहरेदार हूँ, ऐसी ही चौकीदारी करता हूँ और देखता हूँ कौन मेरे भीतर जा रहा है और कौन भीतर से बाहर तक आ रहा है । मैं भी अपने इस काया के राजमहल की चौकीदारी करता हूँ । तब पहरेदार ने पूछा- मैं जो चौकीदारी करता हूँ, इसके बदले में मुझे पैसे मिलते हैं, तुम्हें क्या मिलता है ? बालशेम ने कहा- मुझे जो मिलता है, उसे

पैसों में नहीं तौला जा सकता। मुझे अस्तित्व के आनन्द का पुरस्कार मिलता है। मुझे सत्य से संवाद करने का, उसके सान्निध्य में जीने का जो अवसर मिलता है, उसे धन से तौला नहीं जा सकता, वह तो अमूल्य है। वह पहरेदार बालशेम की बातों से अत्यधिक प्रभावित हुआ और पूछा- क्या मैं भी ऐसी चौकीदारी कर सकता हूँ ? बालशेम ने कहा- ज़रूर, बल्कि तुम तो मुझ से भी अच्छी चौकीदारी कर सकते हो, क्योंकि मुझे तो अपनी चौकीदारी को साधना पड़ा है और तुम्हें तो यह पहले से ही आती है। बस फ़र्क यह है कि अभी तक तुमने आँखें खोलकर चौकीदारी की, अब पलकें झुकाकर अपने भीतर की चौकीदारी करनी होगी और पल-पल जागकर देखना होगा कि कौन भीतर आ रहा है और कौन भीतर से बाहर जा रहा है। कब कहाँ किस चीज़ का उदय हो रहा है और कब कहाँ किस चीज़ का विलय हो रहा है। स्वयं के प्रति जागरूक होना होगा।

यह सचेतनता है। स्मृतिमान होना है। प्रत्यक्ष अनुभूतियों के प्रति जागरूकता है। सड़क पर चल रहे हैं तो जागरूक होकर चलने में ही ढंग से चल पाएँगे अन्यथा दुर्घटना घट सकती है। जागरूकतापूर्वक खाना खाने पर ही अपने गालों को बचाया जा सकता है। जागरूकतापूर्वक बोलने से ही लड़ाई-झगड़े से बच सकेंगे। ऐसे ही जागरूकतापूर्वक करने पर ही हम ध्यान ढंग से कर पाएँगे। प्रमाद और जागरूकता दोनों आपस में विरोधी हैं, दुश्मन हैं। साधना का प्रवेश-द्वार अप्रमाद-दशा है। इसीलिए पहले जिन्हें साधना करनी होती थी, वे घर-गृहस्थी त्याग कर संन्यासी बन जाते थे, क्योंकि गृहस्थी में रहकर बाहर के निमित्तों से अप्रभावित रहना मुश्किल है। गृहस्थी के निमित्त हमारी आत्म-साधना में बाधक बन जाते हैं। संप्रज्ञाशीलता में बार-बार अवरोध उत्पन्न होता है। इसीलिए ध्यान रखें कि जब साधना-शिविर में आएँ तब घर को बिल्कुल ही भुला दें। ऐसे रहें मानो आपके लिए वे और उनके लिए आप हैं ही नहीं। तभी तो गुरु गोरखनाथ ने कहा- मरौ हे जोगी मरौ। मरोगे, तभी अमृत को उपलब्ध कर पाओगे। जब तक प्रपंचों में उलझे रहोगे, तब तक स्वयं से वंचित ही रहोगे। राग-द्वेष से मुक्त होकर अपनी साधना में लीन होना है। राग-द्वेष से मुक्त होने का अर्थ ही यही है कि अब न कोई व्यापार, न पत्नी, न पति, न माता-पिता, न घर, न ज़मीन-ज़ायदाद।

हमारी एक साधिका बहन हैं, वे हमारे पास आई हुई थीं। उन्होंने आते ही बता दिया था कि वे सात दिन हमारे पास रहेंगी। आठवें दिन वापसी का

टिकट है। हमने कहा स्वागत है। संयोग से तीसरे दिन ही उनके भाई का फोन आया कि घर में चोरी हो गई है। सारा माल असबाब चला गया है। कहने लगीं- मैं क्या करूँ, जो तुम्हें वहाँ उचित लगे, करो। मेरे पास भी संदेशा आया है कि ऐसा हो गया है, आप उन्हें भिजवा दीजिए। मेरा फ़र्ज़ बना कि अगर ऐसी स्थिति है तो कहूँ कि आप चले जाइए। मैंने कहा तो उन्होंने तुरन्त कहा- आप और कहते हैं कि चले जाइए। मैं चौंका। वे फिर बोलीं- अरे प्रभु, आप भी क्या बात करते हैं, जो जाना था सो चला गया। मैं वहाँ रहती तो भी जा सकता था, अभी तो मैं जिस उद्देश्य के लिए आई हूँ, प्राणपण से उसी के लिए समर्पित रहूँगी।

वह साधिका वापस नहीं गई। सात दिन बाद जब वह जाने लगी तब केवल यही कहा- प्रभु, कुछ चीजें ऐसी थीं, जिनका मोह मैं नहीं छोड़ पाई, मैं उस चोर की आभारी हूँ कि वह जो कुछ भी ले गया, उसके कारण मेरा परिग्रह थोड़ा हल्का हो गया।

ऐसे भाव सभी के नहीं होते। व्यक्ति आतापी, संप्रज्ञाशील और स्मृतिमान होकर साधना-मार्ग पर आए। तभी वह साधना परिणाम देगी, किसी सच्चाई तक पहुँचाएगी, साधारण प्रकृतियों से ऊपर उठाकर असाधारण चेतना का स्वामी बनाएगी। अन्यथा वही पुरानी स्मृतियाँ उमड़ती रहेंगी। त्याग वह नहीं है, जो कह-सुनकर किया जाता है। स्वयं के बोध से किया गया त्याग वास्तविक और सार्थक त्याग है। इस तरह की अनुपश्यना हमारे लिए कल्याणकारी साबित होती है। राग-द्वेष से मुक्त होकर, वीतरागी, वीतद्वेष होकर जीने वालों की तमन्नाएँ, आरजू, भावनाएँ, कुछ अलग होती हैं। उनका नज़रिया, उनकी तितिक्षाएँ कुछ अलग होती हैं।

श्री भगवान हमें आतापी, संप्रज्ञाशील और स्मृतिमान बनाकर हमें साधना में प्रवेश दिलाना चाहते हैं। साधना में किस तरह आगे कदम बढ़ाते हुए हमें ले जाएँगे, आज हम अगला सूत्र लेते हैं- 'यहाँ कोई अरण्य में वृक्ष तले या शून्यागार में जाकर शरीर को सीधा रख, मुख के ऊपरी भाग पर स्मृति प्रतिष्ठापित कर, पालथी मारकर बैठता है। वह स्मृतिमान हो साँस लेता है, स्मृतिमान हो साँस छोड़ता है। वह लम्बा साँस लेते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं लम्बा साँस लेता हूँ और लम्बा साँस छोड़ते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं लम्बा साँस छोड़ता हूँ। वह ओधा साँस लेते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं

ओधा साँस लेता हूँ और ओधा साँस छोड़ते हुए भली प्रकार जानता है कि मैं ओधा साँस छोड़ता हूँ। वह सीखता है कि मैं सारी काया के प्रति संवेदनशील होकर साँस लूँगा, मैं सारी काया के प्रति संवेदनशील होकर साँस छोड़ूँगा। वह सीखता है कि मैं काया के संस्कार को प्रश्रब्ध अर्थात् शांत करके साँस लूँगा, मैं काया के संस्कारों को प्रश्रब्ध अर्थात् शांत करके साँस छोड़ूँगा।

साधना और समाधि का प्रवेश द्वार है— आनापान-सती। सती अर्थात् स्मृति और आनापान है— आना और अपान यानी जाना। साँसों के आने और जाने के प्रति अपनी स्मृति और सचेतनता को पुनः-पुनः लगातार साधने का नाम ही 'आनापान-सती' है। अपनी भाषा में हम इसे 'आनापान-योग' कह सकते हैं अर्थात् आती-जाती श्वासों के प्रति आत्म-जागरूक होकर ध्यान करना 'आनापान-योग' है। हम बीस मिनट के साथ अपने आनापान की साधना शुरू करें और अब बुद्ध के इस कथन के रहस्य को समझें। पहली बात- साधक स्वयं को अरण्य में, शून्यागार में या वृक्ष तले ले जाकर बैठे अर्थात् व्यक्ति स्वयं को एकान्त में ले जाए।

दूसरी बात— शरीर को सीधा रखकर मेरुदंड, कमर, गर्दन सीधी रखकर बैठे। अन्यथा निद्रावस्था हावी हो सकती है। अतः जब तक जागरूकता रह सकती है तब तक अनुपश्यना कीजिए। जब शिथिलता महसूस हो तो ध्यान का आडम्बर न करें और खड़े हो जाएँ। अनुपश्यना करते हुए शरीर में हलन-चलन न हो, देह का कोई भी अंग हिले-डुले नहीं। जब हमें चित्त को स्थिर करना है तो पहले काया को स्थिर करें। प्रश्न है क्यों न हिले-डुलें, क्योंकि हमारे शरीर में, काया के लोक में कब, कहाँ, कौनसी प्रकृति का उदय होगा, हमें उसके प्रति जागना है, उसका साक्षी होना है। हिलने-डुलने पर उस उदयशील प्रकृति को समझ नहीं पाएँगे और अनुपश्यना ठीक से साध नहीं पाएँगे। जब हमें लगे कि घुटने ऊपर उठना चाहते हैं, तब वही क्षण होता है कि वहाँ प्रतिकूलता का वेदना का, दुःखद अहसासों का घनत्व जहाँ हुआ, वहाँ उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति करें, पर उससे पहले हमने हिलना-डुलना शुरू कर दिया। अब ध्यान बँट गया, अनुपश्यना बँट गई, परिणाम से हम फिर दूर हो गए।

तीसरी बात— मुख के ऊपरी भाग पर स्मृति प्रतिष्ठापित करें। अनुपश्यना कहाँ करें— यूँ तो हम शरीर के किसी भी अंग पर— पेट (नाभि), हृदय, नाड़ियाँ कहीं भी ध्यान कर सकते हैं, लेकिन हमारे मन और बुद्धि के सबसे निकट

आती-जाती श्वास है। श्वासों को मन और बुद्धि सरलता और शीघ्रता से पकड़ सकते हैं। मुख का ऊपरी प्रदेश नासिका है और नासापुट मध्य क्षेत्र हैं अर्थात् आती-जाती श्वासों पर अपना ध्यान, अपनी जागरूकता और सचेतनता स्थापित करने का प्रयत्न करें। चौथी बात- पालथी लगाकर बैठें। शारीरिक अस्वस्थता के कारण आप कुर्सी पर बैठ सकते हैं, लेकिन स्वस्थ व्यक्ति पालथी लगाकर बैठे।

शरीर में होने वाले सत्य को समझने के लिए शरीर को स्थिर करके पालथी लगाकर, मेरुदंड सीधा रखकर, एकान्त में मौन होकर बैठें। किसी भी प्रकार का आरोपण न करें, किन्हीं चीजों को याद न करें। हर चीज़ से मुक्त होकर अर्थात् राग-द्वेष से रहित होकर अनुपश्यना करने के लिए तत्पर हों। तभी हम अपने भीतर होने वाले उदयों को समझ सकेंगे, वरना इधर-उधर भटकते रहेंगे, बाहर के वातावरण प्रभावित करते रहेंगे। हमें बाहर की घटनाओं का भी साक्षी होना है, जो हो रहा है, उसे होने दें। साधक तय कर ले कि उसे सामाजिक स्वरूप को बरकरार रखना है या अपने निर्वाण स्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहना है। हमें क्या चाहिए, दो नावों की सवारी या लक्ष्य की उपलब्धि ? दो नावों पर सवार होकर हम कहीं भी न पहुँच सकेंगे न माया मिलेगी और न ही राम।

हमारी हालत यह है कि न तो संसार में डूब पाते हैं, न ही साधना की गहराई में उतर पाते हैं। दोनों जगह उथले-उथले चल रहे हैं। हम साधना में तो बढ़ना चाहते हैं, पर संसार का मोह छोड़ नहीं पाते। अगर आगे बढ़ना है, तो दोनों क़दम एक साथ चलेंगे। दस क़दम की दूरी तय करने के लिए एक पाँव से नहीं चला जा सकता। साधना संसार से दस क़दम आगे बढ़ाना है। हम एक क़दम तो उठा लेते हैं, पर दूसरा क़दम उठाने का साहस अपने भीतर नहीं जुटा पाते। हम सभी पहले और दूसरे क़दम के बीच ही अटके रह जाते हैं। दूसरा क़दम बढ़े तभी तीसरा क़दम सार्थक होगा। जो छोड़ना है, वह तो छोड़ नहीं पाते और चाहते हैं निर्वाण, मुक्ति।

साधक अपना नज़रिया स्पष्ट कर ले कि वह क्या पाना चाहता है। इसीलिए कहते हैं- मरौ हे जोगी मरौ। पहले मरना होगा- किसी का चेला बन जाना संन्यास नहीं है, संन्यास वह है, जिसमें आपके लिए संसार ना-कुछ हो गया है। उसके पहले संन्यास आता ही नहीं है। संन्यास का वेश ज़रूर आ जाता

है, पर भीतर संन्यास अवतरित नहीं होता। संन्यासी के लिए दुनिया मर गई। वह केवल उसी के लिए, प्रभु के लिए ही समर्पित हो जाता है। इसीलिए मैं कहता हूँ संन्यासी होना अत्यन्त दुर्धर तपस्या है। जन्मों-जन्मों में किसी प्रबल पुण्योदय से कोई वास्तविक संन्यासी बन पाता है। शेष तो वेश-परिवर्तन से क्या फ़र्क पड़ता है, फिर संसार में रहो कि संन्यास में।

श्री भगवान कहते हैं पालथी मारकर बैटो, मुख के ऊपर भाग पर अपनी स्मृति को, अपनी सचेतनता को प्रतिष्ठापित करो। केवल स्थापित ही न करें, 'प्रतिष्ठापित' करें। प्रतिष्ठा यानी जिसे अब हिला भी न सकें। मंदिर में मूर्ति की प्रतिष्ठा करते हैं तो बाद में वह हिलाते भी नहीं हैं और अगर हिल जाए या हट जाए तो कहते हैं आशातना हो गई। इसी तरह जब हमारा ध्यान हट जाए तो उसे क्या कहेंगे ? असल में तो हम उस पर गौर ही नहीं करते। प्रतिष्ठा का अर्थ हुआ- अपने प्राणों को, स्वयं को वहाँ प्रतिष्ठित कर दिया, प्राणपण से अपनी जागरूकता को, सचेतनता को मुख के ऊपर भाग पर प्रतिष्ठापित करना है। जब कोई साधक इस बाह्य दशा का, बाह्य स्वरूप का निर्माण कर लेता है, तभी वह साधना के लिए तैयार हो पाता है, उसकी भूमिका, उसका धरातल बन जाता है और तब वह भलीभाँति आती हुई साँस को भी जान लेगा और जाती हुई साँस को जानने में भी सफल हो जाएगा।

कोई व्यक्ति अगर साधना के मार्ग पर पहला क़दम रख रहा है, तो उसके लिए मैं सुझाव दूँगा कि वह एक माला हाथ में रख ले। शुरुआती दौर में माला उपयोगी बन सकती है। यह सलाह बुद्ध ने नहीं दी है, मैं दे रहा हूँ। अन्यथा पता ही नहीं चलेगा कि बीस मिनट हुए या नहीं। साँस + धारा पर थोड़ी-सी सचेतनता सधते ही माला छोड़ दें। केवल दस दिन के लिए हमें यह माला तीन बार फिरानी है। कोई मंत्र नहीं, कोई जाप नहीं करना है। ज्ञान मुद्रा धारण करें और एक मनका घुमाएँ, लम्बी गहरी साँस लें और लम्बी गहरी साँस छोड़ें। अभी हम ध्यान नहीं कर रहे हैं, अभी श्वास-प्रश्वास का अभ्यास कर रहे हैं। यह सचेतन प्राणायाम है। चित्त भटक सकता है, लेकिन चिन्ता न करें। पुनः उसे लौटा लाएँ और अभ्यास जारी रखें।

समाधि का पहला द्वार है— आनापान-योग। अपनी आती-जाती श्वासों पर अपनी स्मृति को, सचेतनता को स्थापित करना। अपने मन के घोड़े को साँसों के रास्ते पर लगाना। अभी साँसों की अनुपश्यना नहीं हो रही है, साँसों

का मर्म समझ में नहीं आया है, अभी तो हम साँसों को पकड़ने का अभ्यास कर रहे हैं। यह एक माला पूरी हुई। पहली माला में लम्बी साँस लें, तो दूसरी माला में श्वास की गति को मन्द करते हुए लम्बे श्वास ले रहे हैं और लम्बे-लम्बे मन्द श्वास छोड़ रहे हैं। सामान्य तौर पर हम एक मिनट में पंद्रह श्वास लेते हैं, लेकिन लम्बे गहरे दस श्वास लिए जाते हैं और मन्दगति के लम्बे-गहरे श्वास छः-सात ही लिए जाते हैं। एक माला अब मन्द गति के श्वास-प्रश्वास की करें। यह थोड़ा कठिन होगा, लेकिन महावीर ने कहा- जब तुम ध्यान करो तो मन्द-मन्द श्वासोश्वास पर मन को साधो। साधना से पहले मन्द-मन्द श्वास-प्रश्वास करें। हम श्वास को जान रहे हैं, उसी का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। श्वास को जानने का ही प्रयास और पुरुषार्थ कर रहे हैं। तीसरी माला में आती-जाती सहज साँसों की अनुपश्यना करें। अब प्रयास मिट गया है, हाथ में केवल माला का मणिया चल रहा है और श्वासों की अनुपश्यना हो रही है। दस दिन बीस मिनट तक ये तीन माला श्वास की साध लीजिए और दस दिन बाद इस माला का त्याग कर दीजिए और लम्बी, मन्द और सहज श्वास धाराओं पर स्वयं को जगाएँ, इनकी अनुपश्यना करें।

श्वासों पर जागृति आपके कायिक लोक पर भी जागृति पैदा करेगी। श्वासों के प्रति जैसे-जैसे जागरूकता सधती है, वैसे-वैसे हमारे काया के लोक में जो-जो उपद्रव उदय में आएँगे, हम उनको पकड़ने में, जानने में, समझने में, उनकी प्रकृति के साक्षी होने में सफल होते जाएँगे। साधक जानता है कि कब श्वास लम्बी चल रही है, कब मन्द है, कब सहज है और कब नहीं चल रही है। ऐसी स्थिति भी बनती है, जब साँस ओछी चलती है अर्थात् श्वास इतनी धीमी और मन्द चलती है कि पता नहीं चलता कि श्वास चल भी रही है— इसे कहते हैं श्वास का प्रश्रब्ध होना, शान्त होना। जब श्वास इतनी शान्त हो जाएगी तो हमारी काया भी शान्त हो जाती है। पहले चरण में श्वासों के प्रति जागना है और श्वासों को जानते हुए काया के प्रति संवेदनशील होना है। तब वह सिर से लेकर पाँव तक प्रत्येक अंग की अनुपश्यना करने लगता है और तत्त्वतः अपनी काया को समझने लगता है। जीवन का सारा मर्म और रहस्य इस साढ़े तीन हाथ की काया में समाहित है।

ध्यान के अन्य सभी मार्ग हमें अदृश्य से जोड़ने की प्रेरणा देते हैं, पर अनुपश्यना का मार्ग हमें हमारे भीतर वर्तमान क्षण में, क्षण-क्षण में जो-जो

उदय और विलय में आ रहा है, उस प्रकृति के प्रति साक्षी होने का मार्ग देता है। हमें केवल दर्शन करना है, केवल ज्ञान करना है अर्थात् दर्शन मात्र रहे, ज्ञान मात्र रहे, शेष सब प्रश्रब्ध शान्त होता जाए।

आप सभी आनापान-योग में प्रवेश करें। नमस्कार।



6

चलते-फिरते कैसे करें अनुपश्यना

आनापान-योग साधना और समाधि का प्रवेश-द्वार है। आती-जाती श्वासधारा को बिना किसी हस्तक्षेप के, सचेतनतापूर्वक जानना, उसका बोध करना, उसके उदय और विलय को समझना ही आनापान-योग है। श्वासधारा जैसी भी चल रही हो, उसे यथाभूत जानना होता है, उसमें किसी प्रकार का आरोपण नहीं करना होता है। न किसी मूर्त का, न सूरत का, न मंत्र या शब्द या ऋचा का। कोई आरोपण किए बिना जैसी भी हमारी साँस आ-जा रही है, उसे होशपूर्वक जानते रहना ही आनापान-योग है। अगर श्वास गहरी चल रही है या ओछी चल रही है, लम्बी है या छोटी तो अनुपश्यना करने वाला साधक भलीभाँति जानता है कि श्वास किस प्रकार की चल रही है। सामान्य और साधारण श्वास का भी वह दृष्टा बन जाता है। जैसे सुथार जानता है कि उसे अपने औजारों को कितने प्रतिशत तक आगे या पीछे चलाना है। जैसे वह अपने औजार और उसके परिणाम के प्रति सचेत और जागरूक रहता है, ठीक उसी तरह अनुपश्यना करने वाला साधक भी अपनी श्वासों की स्थिति को जानता है।

हमारे इस काया के लोक में श्वास का आना-जाना असाधारण और अलौकिक है, क्योंकि यह वह प्राण-वायु और प्राण-चेतना है, जिससे हमारे शरीर और चित्त की समस्त गतिविधियाँ प्रेरित और प्रभावित होती हैं। श्वासों के आवागमन से हमारा श्वसन तंत्र कार्य करता है। श्वसन तंत्र के संचालन से हृदय काम करता है। हृदय के कार्य करने से उसमें रक्त के परिवहन से मस्तिष्क काम करने लगता है। शरीर के प्रत्येक नाड़ी-तंत्र में, रग-रग में रक्त प्रवाह, देह की संवेदनाएँ, सारे अहसास अन्ततः श्वासधारा से जाकर ही जुड़ते हैं। इस तरह श्वास हमारे जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। हम अपनी श्वास साधारणतः स्वयं बन्द नहीं कर सकते। जब कोई तालाब या नदी में डुबकी लगाता है तो जब तक वह अपनी श्वास को रोकने में सफल होता है, तभी तक वह पानी में रह सकता है और जैसे ही उसे श्वास लेने की आवश्यकता पड़ती है, वह तत्काल बाहर आ जाता है, क्योंकि शरीर और इसकी व्यवस्थाएँ वायु के आधार पर संचालित होती हैं।

जब हमें अपने जीवन की सच्चाई का साक्षात्कार करना है तो श्वासधारा के बीच में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जो जैसा हो रहा है, हम उसे वैसा ही यथावत् जानने का प्रयत्न कर रहे हैं, अभ्यास कर रहे हैं। हमारी देह में श्वासों के आवागमन के साथ ही अनेक प्रकार की संवेदनाएँ भी होती हैं। मृत शरीर श्वास नहीं लेता, इसलिए उसमें किसी प्रकार की संवेदनाएँ नहीं उठतीं। श्वास लेने वाली देह में अनेक-अनेक प्रकार के संवेदन अहसास उदित होते हैं। यह भी तय है कि ये संवेदन स्थायी नहीं होते, थोड़े-थोड़े समय में बदलते रहते हैं, यह हम सभी महसूस करते हैं। कभी भूख का संवेदन जगता है, कभी नीन्द का अहसास होने लगता है, कभी निवृत्ति की शंका होने लगती है। ये संवेदना हर समय नहीं होतीं, पर इस देह के अन्दर-ही-अन्दर सारी व्यवस्थाएँ चलती रहती हैं। इस काया में अलग-अलग संवेदनों का उदय और विलय होता रहता है। जब वे प्रगाढ़ हो जाते हैं तो हमारी साधारण बुद्धि और मन के द्वारा भी ग्रहण कर लिए जाते हैं, लेकिन अनुपश्यना करने वाला साधक अपने जीवन, शरीर, वाणी अर्थात् समस्त गतिविधियों का संप्रज्ञान, उनका बोध करने वाला अपने पल-पल के उदय और विलय का भी साक्षी होता जाता है।

साधक जब ध्यान में उतरकर अपने संवेदनों पर जागरूक होने लगता है, उन्हें समझने लगता है तो वे प्रत्यक्ष अनुभूति में आने लगते हैं। हमारी सचेतनता

कभी स्थूल और कभी सूक्ष्म हो जाती है। श्वास पर प्रगाढ़ता सधने पर तीसरे परिणाम के रूप में भीतर की अनुपश्यना होने लगती है। चौथे परिणाम के रूप में कहा जा सकता है कि वह बाहर की भी अनुपश्यना करने लगता है। पाँचवें परिणाम के रूप में भीतर और बाहर दोनों के प्रति एक साथ सचेतन होता है। दोनों का संप्रज्ञान और प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। शरीर के किसी भी हिस्से में, पुद्गल-परमाणुओं के घनत्व में जो भी उदय हो रहा है, वह जानने लगता है कि वर्तमान क्षण में काया में अमुक प्रकार का उदय है। कभी दर्द के रूप में, जकड़न के रूप में या सुखद और दुःखद अहसास के रूप में सूक्ष्म संवेदन भी उदित होते रहते हैं। अहसासों का होना ज़रूरी नहीं है। अहसास न होने पर भी सहज साक्षी हो जाना है। अगर उदय है तो चित्त स्वतः उस ओर आकर्षित हो जाएगा, कोई आरोपण और हस्तक्षेप के बिना साधक उस वृत्ति को जानेगा। जैसे तालाब में बुदबुदा उठता है तो हम उसे रोक नहीं सकते। बाहर से किसी प्रकार रोक भी दिया जाए, तब भी अन्दर तो उठता ही रहता है।

इस तरह छोटे परिणाम के रूप में उदय को जानने लगता है और सातवें परिणाम के रूप में विलय को भी जानने लगता है कि अब सब कुछ प्रश्रब्ध हो गया है, सब शान्त और उपशांत हो गया है, अब मौन है। आठवें परिणाम के रूप में उदय और विलय दोनों को एक साथ जानने लगता है। क्रोध-मान-माया की उदित होती प्रवृत्तियों को जान रहा होता है, साथ-साथ उनके विलय को भी पहचान रहा होता है। नौवें परिणाम के रूप में वह जान जाता है कि यह काया है। इसका यह धर्म है, यह प्रकृति है और वह यह काया नहीं है।

साधक जो प्रत्यक्ष अनुभूति में लगा हुआ है, अपनी सच्चाई से मुलाकात कर रहा है, स्वयं के प्रति सचेतन होने का अभ्यास कर रहा है, खुद के लिए आतापी है, जो साधना के लिए परिश्रम, उद्यम कर रहा है, वह भलीभाँति अपनी काया के बारे में जानने लगता है। ऐसी स्थिति में साधक को बोध होने लगता है कि मैं काया नहीं हूँ।

अब प्रश्न उठता है कि मैं काया क्यों नहीं हूँ? दुनिया के सारे धर्मशास्त्र यही कहते हैं कि मैं काया नहीं, आत्मा हूँ। लेकिन हमारी अनुभूति में पहले काया ही आती है। हम अभी आत्मा शब्द को नहीं ला रहे हैं, किसी भी प्रकार का आरोपण नहीं कर रहे हैं। अभी तो हमें काया, श्वास और इससे होने वाले संवेदनों का ही संप्रज्ञान हो रहा है। अभी हमें नित्य तत्त्व, आत्म या परमात्म

तत्त्व की अनुभूति नहीं हो रही है। न ही इनका आरोपण और निक्षेप करेंगे। तब काया में रहकर भी यह कैसे जानेंगे कि मैं काया नहीं हूँ, क्योंकि हमारे सारे अनुभव तो काया के ही हैं। हमारी काया में हर क्षण परिवर्तन होते रहते हैं, भले ही हमें पता न चलता हो, लेकिन परिवर्तनशील होते ही हैं, जो समय-समय पर हमें नज़र भी आ जाते हैं। जो परिवर्तनशील हैं, पल-पल बदलता है, वह 'मैं' कैसे हो सकता है, क्योंकि संवेदना का उदय और विलय हो रहा है। अगर 'मैं' संवेदना हूँ तो मुझे भी मिट जाना चाहिए था, लेकिन 'मैं' मिटा नहीं हूँ। इसलिए 'मैं' हूँ। जो उदय हुआ, वह काया में था और विलय भी काया में ही हुआ। इसलिए 'मैं' काया नहीं हूँ।

'मैं' और 'मेरा' - न तो 'मैं' काया हूँ और न ही 'मेरी' काया है। अभी हम बुद्धि के तल पर समझ रहे हैं। लेकिन साधनाशील अपनी वास्तविक अनुभूति में इसको जान रहा होता है। शाब्दिक रूप से भाषा में बुद्धि के तल पर समझना केवल चिन्तन-मनन है, लेकिन प्रत्यक्ष अनुभूति से जानना इसमें बहुत भेद है। बुद्धि से जानना और बुद्ध हो जाना इसमें गहरा फ़र्क है। अभी तो हम बुद्धि से चिन्तन-मनन कर रहे हैं, लेकिन जब आप एकान्त में रहकर स्वयं की अनुपश्यना करेंगे, तब प्रत्यक्ष अनुभूति कर पाएँगे, ठोस धरातल के रूप में। यँ तो हम सभी जानते हैं कि शरीर अनित्य है, लेकिन यह जानना केवल बुद्धि के तल पर है। ठोस अनुभूति के रूप में नहीं जानते हैं। अगर ठोस अनुभूति के रूप में जानते तो इस काया का इतना श्रृंगार नहीं करते, इसका भोग-उपभोग नहीं करते, आहार-पानी के द्वारा इतना पोषण न करते। हम यह सब इसलिए करते हैं, क्योंकि हम बुद्धि के स्तर पर जानते हैं कि काया अनित्य है। बोध के स्तर पर नहीं जानते। जीवन-मरण सब जानते हैं, लेकिन व्यवहार में, अनुभूति के रूप में कुछ नहीं पता है।

महावीर ने माता-पिता की अर्थियों को देखा था। उनकी जलती हुई चिताओं को देखा, देखते-देखते वे अन्तर्लीन हो गए। महावीर को लगा कि ये अर्थियाँ माता-पिता की नहीं, उनकी अपनी हैं। महावीर का देह-मोह जल गया। वे आत्म-जागृत हो गए। उन्होंने विदेह की खोज के लिए अभिनिष्क्रमण का क़दम बढ़ा दिया। बुद्ध ने भी राज-पथ पर शव-यात्रा देखी थी। उन्होंने सारथी से पूछा- लोग इस व्यक्ति को सुलाकर कंधे पर उठाए क्यों चले जा रहे हैं ? सारथी ने टिप्पणी की- यह व्यक्ति मर चुका है। मृत्यु अवश्यभावी है,

सबको आती है। मुझे भी, आपको भी। बुद्ध को लगा अगर मृत्यु सबके खाते में है, तो मृत्यु के पार क्या है? अमृत क्या है? बुद्ध को जन्म, जरा, रोग और मृत्यु जैसे तत्त्वों ने आन्दोलित कर दिया। वे पत्नी-बच्चे को छोड़कर निकल गए। परम त्याग के पथ पर, परम सत्य की तलाश में।

राजचन्द्र की आत्मा भी ऐसे ही जगी थी। घर में किसी बड़े-बुजुर्ग की मृत्यु हो गई थी। दूर पेड़ पर बैठे उनकी चिता को जलते देखा। चिता को क्या देखा, चिता को देखकर उनकी खुद की चेतना जग गई। जब भी कोई तथ्य अनुभूति और बोध की गहराई में उतर जाता है, तो जीवन में स्वतः संबोधि का प्रकाश साकार हो जाता है।

अभी तो जब हम श्मशान में जाते हैं किसी का दाह-संस्कार करने, तब ही पता चलता है कि काया अनित्य है, पर दूसरे दिन उसे भुला भी बैठते हैं, क्योंकि अब वह बोध रहा ही नहीं। हम तो उसे याद करने में भी डरते हैं, क्योंकि तब अपनी ही मौत दिखाई देने लगती है। जबकि यही सही समय है जागने का, अनुपश्यना करने का। अस्थि-कलश आपकी सोई हुई चेतना को झकझोर सकता है कि यह है काया-चार मुट्टी राख और चार टुकड़े हड्डियाँ। प्रत्यक्ष अनुभूति देह से विदेह बनाती है, देहातीत बनाती है, जीवनमुक्ति का रास्ता खोलती है। संप्रज्ञानी होना क्या है- अपनी बुद्धि के साथ सचेतनता का उपयोग करते हुए प्रत्यक्ष अनुभूति करना।

जानना पाँच प्रकार का होता है- एक है केवल जानना, दूसरा है- प्रज्ञापूर्वक जानना और तीसरा है- सम्यक् रूप से जानना, चौथा है- अपनी परिधि से भी बाहर निकलकर जानना, पाँचवाँ है- सर्वज्ञ की भाँति जानना, समग्र प्रकार से किसी भी पहलू को, तत्त्व को, वस्तु को, व्यक्ति को जानना, स्वयं को जानना। जब हम जान लेते हैं, तो आँख खुल जाती है। सम्यक् ज्ञान का परिणाम है सम्यक् दर्शन। अज्ञान तभी तक है, जब तक हम भलीभाँति नहीं जानते हैं। मोह भी तभी तक रहता है, मूर्च्छा भी तब तक है, जब तक हम ठीक प्रकार से नहीं जानते- केवल जानते हैं, ऊपर-ऊपर जानते हैं। जब तक केवल जानना है, तब तक अज्ञान, मोह, मूर्च्छा, अहंकार, कषाय, विकार-वासनाएँ हावी रहती हैं। अभी हम ऊपर-ऊपर, बाहरी तौर पर ही जानते हैं। ध्यान भीतर तक जानने का उपक्रम है।

स्मरण करें- राजा भर्तृहरि को, जिन्हें किसी ने अमृत फल दिया। राजा ने

सोचा कि वे इसे खाकर क्या करेंगे, उन्होंने उसे अपनी पत्नी को दे दिया। पत्नी महावत से जुड़ी हुई थी, उसने वह फल महावत को दे दिया। महावत किसी गणिका के प्रेम में था, उसने वह फल उसे दे दिया। वह गणिका राजा से प्रेम रखती थी। सो उसने सोचा यह फल तो राजा के पास होना चाहिए। वह फल लौटकर राजा के पास आ गया। भर्तृहरि जानते तो पहले से ही थे, लेकिन ऊपरी-ऊपरी तौर पर ही जानते थे। अब उन्हें धक्का लगा। उन्होंने भलीभाँति तब सम्यक् रूप से जाना। पत्नी ने पहले भी लताड़ा तो होगा ही, लेकिन भर्तृहरि नहीं जागे, क्योंकि तब पहले चरण का ही जानना था, लेकिन आज जो जानने को मिला वह प्रज्ञापूर्वक, सम्यक् रूप से, परिधि से चार कदम आगे निकलकर समग्र रूप से जानना हो गया ! जब वह फल हाथ में आया तब उस फल को देखकर भर्तृहरि की सोई हुई आत्मा जाग गई। मोह-विकार, राग-द्वेष में उलझी उनकी चेतना जाग गई। उन्होंने कहा- 'अरे !' और तभी वैराग्य-शतक के पहले श्लोक की रचना हुई- 'यां चिन्तयामि सततम् मयी सा विरक्ता' - जिसके लिए मैं रात-दिन इतना तड़पता रहा हूँ, मैं नहीं जानता था कि वह तो मुझसे इतनी विरक्त है।

भर्तृहरि तब राजा न रहे, राजर्षि हो गए। निकल गए राज-पाट छोड़कर। ठोकर लगी, तो चेतना जग गई। जीवन का सच्चा ज्ञान हो गया।

हमारे द्वारा भलीभाँति जाना गया ज्ञान, भलीभाँति प्राप्त हुआ बोध ही संप्रज्ञान कहलाता है। इसी से हमारी मुक्ति का रास्ता खुलता है। एक साधक जो भीतर उठने वाली प्रवृत्ति के उदय-विलय का पल-पल दर्शन कर रहा है, उसी के भीतर अनासक्ति का फूल खिलता है, बुद्धत्व का कमल खिलता है। इसी तरीके से अनगिनत लोग तीर्थंकर हुए और अनगिनत लोग बुद्ध बने हैं। इन्होंने पल-पल सत्य को समझा और जाना 'यह है'। इसी से 'मैं' और 'मेरे' का भाव टूटता है। एक बार भलीभाँति जान लें। तत्त्वतः जान लें, बोधपूर्वक जान लें।

अनुपश्यना यानी क्षण-क्षण, पल-पल की अनुपश्यना। जो भी हो रहा है, कर रहे हैं- सबकी अनुपश्यना। जीवन में जो भी घट रहा है उस सबकी अनुपश्यना। कितने ही प्रकार की अनुपश्यना। बस देखना कि 'यह है'। कोई निक्षेप या आरोपण नहीं। हमारी बुद्धि, हमारी अनुभूति खुद जान रही है, खुद चैक-अप कर रही है। जैसे ही हम जानने लगेंगे कि भोजन का अन्तिम परिणाम

मल ही है, तब उसके प्रति रहने वाली आसक्ति, लिप्सा, तृष्णा अपने-आप कम होने लगेगी। अन्यथा अस्सी वर्ष का बूढ़ा भी भोजन के लिए लालायित रहता है। सत्तर वर्षीय बाबा भी तीसरी शादी में रुचि रखते हैं। अर्थात् इन्सान का मन अतृप्त रहता है। तृप्ति और अनासक्ति, वीतराग दशा, वीतद्वेष और वीतमोह दशा तभी आएगी, जब हम सच्चाई से वाकिफ होंगे। जो हमारे भीतर उदित हो रहा है, हमें उसकी सच्चाई से वाकिफ होना है। किसी भी चीज़ का उदय होना महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि उदय और विलय के प्रति सचेतनता ही महत्त्वपूर्ण है।

ध्यान रखो, सचेतनता ही साधना है। सचेतनता ही हमें आसक्ति के पार ले जाती है। सचेतनता से ही मुक्ति का कमल खिलता है। इसलिए खाओ, तो भी सचेतनता से, चलो तो भी सचेतनता से, बोलो तो भी सचेतनता से, कपड़े खोलो और पहनो तब भी सचेतनता से, मल-मूत्र का त्याग करो तब भी सचेतनता से। बिना सचेतनता के अगर शेविंग की तो सावधान ! ब्लेड का कट लग सकता है, खाना खाया, तो गाल दाँत में आ सकते हैं, कपड़े पहने तो चैन बन्द करना भूल सकते हैं, सड़क पर चले तो ठोकर खा सकते हैं और सीढ़ियाँ उतरे तो फिसल सकते हैं। इसीलिए कहते हैं, सावधानी हटी कि दुर्घटना घटी।

सचेतनता खुद ही एक साधना है, हर कार्य को पूर्णता देने का साधन सचेतनता ही है। जैसे गतिविधि के प्रति सचेतनता चाहिए, ऐसे ही जन्म, रोग, बुढ़ापा, मृत्यु के प्रति भी सचेतनता रहे। सुबह लेट्रिन जाओ तो विसर्जित तत्त्व के प्रति भी सचेतनता रखें और जानें- तो यह है परिणाम। इसी से भोजन और स्वाद के प्रति रहने वाली मूर्च्छा, लालसा कम होगी। किसी को वमन हो तब भी जानें कि यह है परिणाम। शरीर का धर्म ही है बनना, बिगड़ना, सड़ना-गलना। सुबह भले ही काख या बगल में स्प्रे छिड़को, पर दोपहर में गौर करोगे तो बगल से बदबू ही आती नज़र आएगी। कुल मिलाकर, सचेतनता अपनाएँ, सचेतनता का दीप जलाएँ। बुद्ध कहते हैं- अप्प दीपो भव। अपने दीप तुम स्वयं बनो। प्रश्न है खुद के दीपक बनने का तरीका क्या है, तो ज़वाब होगा- सचेतनता।

कहते हैं एक राजकुमार बहुत बीमार होता है। राजवैद्य, चिकित्सक सभी सारे प्रयत्न कर हार चुके हैं। राजा अत्यन्त व्यथित है, वह तीन दिन और तीन

रात से राजकुमार की शैया के निकट ही बैठा है कि अचानक उसे नींद की झपकी लग जाती है और एक सपना आता है कि उसके सात राजमहल हैं, सात रानियाँ हैं और हर रानी के एक-एक राजकुमार हैं। उनके साथ वह सुखपूर्वक रह रहा है, सभी राजपुत्र उसका सम्मान करते हैं। एक दिन राजकुमार खेलकूद कर अपने राजमहलों की ओर लौट रहे थे कि राजा सामने दिख जाते हैं। सभी राजकुमार अपने-अपने घोड़ों से नीचे उतर जाते हैं और राजा के पाँव छूने लगते हैं। राजा अपने बच्चों के प्रति प्रेम से भर जाता है, उसके हृदय में वात्सल्य उमड़ आता है, वह आगे बढ़कर अपने सारे राजकुमारों को गले लगाना चाहता है। जैसे ही वह गले लगाना चाहता है, उतने में ही बीमार राजकुमार की मृत्यु हो जाती है। राजरानी की चीख निकलती है- 'बेटा, चल बसा।' चीख सुनते ही राजा की आँख खुल जाती है। रानी पुनः कहती है, 'हमारा बेटा नहीं रहा।' राजा हतप्रभ है, वह क्या करे ? उसके सामने दो दृश्य हैं- एक सामने रखा हुआ शव और एक वह स्वप्न जो वह अभी-अभी देख रहा था। राजा गुमसुम हो गया। उससे कुछ कहते-बोलते नहीं बन रहा था। राजमाता ने भी राजा से कहा- तुम कुछ सुन रहे हो या नहीं, तुम्हारा बेटा इस दुनिया को छोड़कर चला गया। राजा ने कहा- हाँ, माँ मैं सुन रहा हूँ।

तो ऐसे चुपचाप क्यों बैठे हो ? अपने पुत्र के लिए कुछ तो विलाप कर। राजमाता ने कहा- तुझे आँसू क्यों नहीं आ रहे, तेरा पुत्र नहीं रहा, क्या तू विक्षिप्त हो गया है, जो ऐसे गूँगे जैसा बैठा है। यह सुनते ही राजा हँस पड़ा। माँ को लगा कि सचमुच ही राजा पुत्र-बिछोह से पागल हो गया है। तभी राजा ने कहा- माँ, बताओ मैं किसके लिए रोऊँ और किसके लिए हँसूँ। माँ ने पूछा- क्या मतलब, क्या कहना चाहते हो ? माँ, मैं उन सात राजकुमारों के लिए रोऊँ या इस राजकुमार के लिए रोऊँ- राजा ने कहा। माता ने पूछा- क्या तुमने कोई सपना देखा था ? राजा ने कहा- 'हाँ माँ, सपना ही देखा था। बस, फ़र्क यह था कि एक सपना बन्द आँखों से देखा था और एक खुली हुई आँखों से देख रहा हूँ।

संसार एक सपना ही तो है, खुली हुई आँख का सपना ! यह अनुभूति, यह संप्रज्ञान ही अनुपश्यना है। जिसकी इस सच्चाई से मुलाकात हो जाती है कि यह है अनित्यता, अनात्म और दुःख, तब अपने-आप ही भीतर में अनासक्ति का फूल खिल जाता है।

अखिल ब्रह्मांड के लोक की तरह ही हमारा देह रूपी लोक है। इस काया रूपी लोक के प्रति हमें जगना होता है, इसकी साधना करनी होती है। इसकी साधना के लिए श्री भगवान जो सूत्र कहते हैं, वह ईर्या पथ से जुड़ा है। बुद्ध कहते हैं- 'कोई चलता हुआ साधक भली प्रकार जानता है कि मैं चलता हूँ, ठहरा हुआ भली प्रकार जानता है कि मैं ठहरा हूँ, बैठा हुआ भली प्रकार से जानता है कि मैं बैठा हूँ और लेटा हुआ साधक भली प्रकार जानता है कि मैं लेटा हूँ।'

अनुपश्यना कुछ विशेष समय के लिए नहीं होती। यह तो चौबीसों घंटे हमारी जीवन की सहचरी हो जाती है। हमें अपने होश और बोध को खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते बरकरार रखना होता है, संप्रज्ञान रखना होता है। वह जो भी क्रिया करता है, जानता है कि यह क्रिया मेरे द्वारा हो रही है। सम्भवतः विश्व में एकमात्र बुद्ध की प्रतिमाएँ ही ऐसी हैं, जो लेटी हुई अवस्था में उपलब्ध हैं। हाँ, विष्णुजी की प्रतिमा भी मिलती है, लेकिन उनमें वे लक्ष्मीजी के साथ क्षीरसागर में आराम फरमा रहे होते हैं। लेकिन बुद्ध लेटे हुए भी ध्यान की स्थिति में होते हैं। महावीर की बैठी हुई प्रतिमाएँ ही दिखाई जाती हैं अर्थात् महावीर को सम्पूर्णतः अप्रमत्त दिखाया जाता है, जबकि महावीर भी लेटते होंगे, वे भी चले होंगे, उन्होंने भी कुछ-न-कुछ खाया-पीया होगा, मल-मूत्र का त्याग भी किया होगा, लेकिन जब हम किसी को आदर्श बना लेते हैं तो उसकी श्रेष्ठ चीजों को ही दिखाना चाहते हैं, शेष सब गौण कर देते हैं। महावीर को भी लेटे हुए दिखाना चाहिए, क्योंकि साधक अहर्निश, सपने में भी अनुपश्यना करता है। स्वप्न में भी उसकी अनुपश्यना जारी रहती है, क्योंकि उसकी सचेतनता कभी खंडित नहीं होती। इसीलिए कहते हैं कि रात में सोते हुए जब वह करवट बदले तब उसे करवट बदलने का भी बोध हो, उसका भी संप्रज्ञान करे, उसे भी भलीभाँति जाने। तब कह सकते हैं कि इसकी प्रज्ञाशीलता सध रही है, भीतर में जागरूकता सधी है। तभी तो हम झेन के डंडे की कहानी याद रखते हैं।

कहानी यह है : एक राजा झेन फकीर के पास पहुँचता है और कहता है कि उसे समाधि प्राप्त करनी है, इसके लिए कितने साल लग जाएँगे ? गुरु ने कहा- तीस साल।

राजा ने कहा- तीस साल ! ये तो बहुत हैं, मेरे पास इतना समय नहीं है।

गुरु ने कहा- तब पन्द्रह साल में काम करवा देंगे ।

राजा ने कहा - पन्द्रह साल भी अधिक हैं ।

- ठीक है दस साल ।

- दस साल भी ज़्यादा हैं ।

- अच्छा पाँच साल ।

- अरे नहीं ये भी ज़्यादा हैं ।

- तीन साल ।

- ये भी ज़्यादा लग रहे हैं ।

- तब इससे कम में काम नहीं हो सकता है । यह अन्तिम समय-सीमा है, इसमें जो मिलना होगा, मिल जाएगा ।

राजा ने विचार किया । उसके मन में आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की प्यास थी । इसलिए वह तैयार हो गया । तब गुरु ने कहा- तू रुक तो गया है, पर सावधान ! इन तीन वर्षों में तू किसी भी प्रकार का प्रश्न नहीं उठा सकेगा, प्रतिक्रिया नहीं कर सकेगा, जैसा मैं कहूँगा, वैसा ही करना होगा । राजा बोला- बिल्कुल । जो आप कहेंगे, वही करूँगा, कुछ भी न कहूँगा । राजा रुक गया । एक साल बीत गया । इस दौरान गुरु ने न तो ज्ञान की बात की, न साधना की बात की । बल्कि कभी उससे झाड़ू लगवाते, कभी पोंछा लगवाते, कभी लकड़ियाँ कटवाते, कभी भोजन पकवाते, कभी दूर-दूर से पानी मँगवाते । केवल मेहनत करवाते । राजा ने सोचा कहीं यह गुरु मुझे बेवकूफ़ तो नहीं बना रहा, रोज़ मुझसे काम तो करवाता है, पर साधना की कोई बात ही नहीं करता । पर पूछूँ भी तो कैसे, ज़बान से बँधा हुआ हूँ । राजा तो बुरा फँस गया, क्योंकि जा भी नहीं सकता और रहने की इच्छा भी न थी । तभी गुरु ने कहा- आज पानी पास वाले कुएँ से न लाना । सुदूर वाला कुआँ, जो वहाँ से पाँच किलोमीटर था, वहाँ से पानी लाने को कहा । राजा ने सोचा यह तो परेशान करता ही जा रहा है । ज्ञान की, ध्यान की तो कोई बात ही नहीं करता । मरता क्या न करता, ज़बान से जो बँधा था, लाया पानी । पानी लाकर रखा ही था कि पीठ पर डंडा पड़ा । उसने पूछा- 'क्या हुआ गुरुजी ?' गुरु बोले- पानी ठीक लाया न, तो रख दे ।

राजा तो परेशान हो गया कि इतनी दूर से पानी लाया और पीठ पर डंडा भी पड़ गया यह कैसी साधना और कौनसी समाधि का रास्ता है, आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का यह कौनसा तरीका हुआ ! लेकिन बोले भी तो क्या ? अब तो यह

रोज़ का ही क्रम हो गया। राजा घबराने लगा कि यह मैंने क्या किया, कहाँ आकर फँस गया ? सेवा तो करो ही, डंडे भी खाओ। राज्य में रहता तो डंडा खाना तो दूर कोई अँगुली भी उठा देता तो उसकी अँगुली ही हाथ से अलग कर दी जाती। और यहाँ यह गुरु डंडों की बरसात कर रहा है और मैं कुछ भी नहीं कर पा रहा हूँ। एक दिन गुरु ने देखा कि जैसे ही वह डंडा मारने को तत्पर हुआ राजा ने पीछे से डंडा पकड़ लिया। गुरु मुस्कराए। अब तो वे हर काम के समय राजा को डंडा मारने लगे। झाड़ू लगाएँ, खाना बनाएँ, पानी लाएँ, जब-तब गुरु डंडा टिका देते। धीरे-धीरे जागरूकता सधने लगी। गुरुजी डंडा मार ही नहीं पाते, उससे पहले वह डंडा पकड़ लेता।

एक दिन राजा सोया हुआ था कि गुरु ने डंडे से प्रहार किया। राजा चौंका कि अब तो हद हो गई। यह गुरु न तो दिन में जीने देता है और न ही रात में सोने देता है। राजा की हालत खराब हो गई, डंडे पड़ते रहे। पर एक रात जब गुरु डंडा मारने के लिए कक्ष में घुसे कि उनकी पदचाप, आने की आहट से ही राजा चौकन्ना हो गया। वह उठकर बैठ गया। गुरु उस दिन डंडा न मार पाए। दूसरे दिन भी वही हुआ। सात दिन बीत गए, पर गुरु डंडा न मार पाए। गुरु कक्ष में आए कि राजा उठकर बैठ जाए। सातवें दिन गुरु ने उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा- धन्य है तुम्हें, तुम समाधि के रास्ते को उपलब्ध हो गए, तुमने आत्म-ज्ञान का मूल तत्त्व अर्जित कर लिया। राजा सोचने लगा और बोला- कौनसा तत्त्व अर्जित कर लिया ? कोई ज्ञान-ध्यान की बात भी न हुई भगवन् और आप कहते हैं मूल तत्त्व अर्जित कर लिया। क्या डंडे खाना ही समाधि का द्वार था ? गुरु ने कहा- हाँ बेटा, सचेतनता को साधना ही समाधि का द्वार था। तुमने पहले अपनी काया को तपाया, काया से मेहनत की, तुम आतापी बने। तुम्हारे भीतर जो ललक पैदा हुई, उससे तुम्हारी स्मृति काया के प्रति कायम हो गई और जब मैंने डंडे मारने शुरू किए तो तुम सचेतन होते चले गए और अंततः मैं डंडा नहीं मार पाता था। तुम्हारी सचेतनता इतनी सध गई कि तुम आतापी, स्मृतिमान और संप्रज्ञाशील हो गए और इन तीन तत्त्वों को साधना ही समाधि का द्वार है।

यह बहुत ही प्रीतिकर कहानी है। स्मरण रहे साधना और समाधि के लिए पाँच बातें चाहिए- (1) प्रखर अनुपश्यना, (2) आतापी हो जाना, (3) संप्रज्ञाशील होना (प्रत्यक्ष अनुभूति को जोड़ना), (4) सचेतन स्मृतिमान होना, (5) राग-द्वेष से मुक्त होकर साधना करना। इन पाँचों को साध लेने से

साधना करनी नहीं पड़ती, साधना अपने-आप होने लगती है। इन्हें साधने से परिणाम अपने-आप आएगा, मुक्ति अपने-आप उपलब्ध होगी। ज़ल्दबाजी से मुक्ति को नहीं पाया जा सकता, फूल अपने-आप खिलता है।

जब ये पाँच बातें हमारे साथ रहेंगी तो भगवान ने जो यह 'ईर्यापथ पर्व' कहा, इसकी साधना धन्य और सार्थक हो जाएगी। जब हम आनापान-योग करें, तब इन पाँच बातों का बोध रखें। जब साधक चले तो उसे बोध रहे कि वह चल रहा है, ठहरने का बोध रहे, लेटने का, बैठने का बोध रहे। काया की ये चार गतिविधियाँ ही सचेतनतापूर्वक सम्पादित करना है।

चलते हुए भी हम कैसे ध्यान करें, इसके लिए बुद्ध ने शब्द दिया 'विपश्यना चंक्रमण'। चंक्रमण का अर्थ है चलना। चलते हुए विपश्यना करना अर्थात् चलते समय हमारा पाँव जमीन पर रखा जा रहा है, उठाया जा रहा है, इसका बोध होता रहे। पाँव रखने और उठाने की क्रिया में अन्य किसी का हस्तक्षेप, निक्षेप नहीं हो, इसका होश बना रहे। चंक्रमण की विपश्यना में केवल चलने पर ध्यान हो, इधर-उधर की न सोचें, न बोलें, न देखें। यह विपश्यना भी हमारे लिए साधना होगी अर्थात् 'हँसिबा खेलिबा धरिबा ध्यानम्'। प्रतिदिन की हर क्रिया ध्यान हो सकती है, बस ज़रूरत है, सचेतनता की। दो शब्दों को याद रखें, भलीभाँति और लगातार। जहाँ ये दो शब्द मिलते हैं, वहाँ साधक आतापी भी होता है, संप्रज्ञाशील भी होता है और सचेतनता को प्रखरता से साधा करता है।

हम काया की अनुपश्यना को समझते हुए इसे अपने जीवन में चरितार्थ करें, इसे जीने का अभ्यास करें, प्रयास करें, इसी शुभ-भावना के साथ।

नमस्कार !



7

आसक्तियों को कैसे काटें

आसक्ति संसार है और अनासक्ति मुक्ति है। निर्वाण और मोक्ष का द्वार अनासक्ति के राजमार्ग से खुलता है। जबकि संसार का आधार प्राणिमात्र के मन में पलने वाली आसक्ति है। आसक्ति संसार का पथ है और अनासक्ति निर्वाण का। आसक्ति मूर्च्छा और मृत्यु की ओर ले जाती है, तो अनासक्ति आत्म-जागरूकता और मुक्ति की ओर बढ़ाती है। जीवन में किसी को स्त्री के प्रति आसक्ति होती है, तो किसी को पुरुष के प्रति। कोई सन्तान या अपनी जमीन-जायदाद के प्रति रागासक्त होता है, तो कोई धन, सम्पत्ति या पद-प्रतिष्ठा के प्रति लालायित रहता है। कई लोग छोटी-सी बात से खिन्न हो जाते हैं तो कुछ लोग थोड़ी-सी प्रशंसा सुनकर अहंकार से भर जाते हैं। प्रतिकूलताएँ इन्सान के मन में आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान करवाती हैं, वहीं अनुकूलताएँ राग पैदा करती हैं। प्रतिकूलता और अनुकूलता की प्रतिक्रियाएँ राग-द्वेष मूलक हो जाती हैं। कई लोग क्रोधी स्वभाव के होते हैं, तो कई लोग कामासक्त होते हैं। लोगों के मन में मोह, मूर्च्छा, कामासक्ति, भोगासक्ति इतनी अधिक होती है कि उनकी देह तो मंदिर में होती है, मुहँ में बोल प्रभु के होते हैं, हाथ में माला भी होती है, लेकिन अन्तरमन में वही भोग की धारा प्रवाहमान रहती है। कामना

संसार की और प्रार्थना निर्वाण की, बड़ी विचित्र दशा है यह।

प्रश्न है : यह आसक्ति कैसे टूटे ? आसक्ति से मुक्त होने के लिए ही लोग सत्संग में जाते हैं, आराधना और तपस्या करते हैं। पर प्रश्न यही है कि क्या यह सब करने से आसक्तियाँ टूट जाती हैं ? पर्व-तिथियों को लोग व्रत करते हैं- व्रत करना अच्छी बात है, लेकिन प्रश्न यही है कि व्रत करने से मन में रहने वाले कषाय के उद्वेग और भोग की तरंगें, भोग के अन्तर-प्रवाह क्या कटते हैं, टूटते हैं या वैसे के वैसे बरकरार रह जाते हैं ?

कहने को तो सबको पता है कि गुस्सा रिशतों को खत्म कर देता है, पराई स्त्री को गलत निगाहों से देखना गलत है, सिगरेट, तम्बाकू, शराब, गुटका स्वास्थ्य के दुश्मन हैं, मृत्यु के बाद कोई भी इन्सान अपने साथ दौलत तो क्या दो मुट्ठी आटा भी नहीं ले जाता, सब बातों का पता है, फिर भी मूर्च्छा इतनी प्रबल है, आसक्ति और लालसा इतनी गहरी है कि जानकारी अपना कोई वजूद नहीं रख पाती और इस तरह हम लोग विचार, वचन और व्यवहार- तीनों से ही गलत, नकारात्मक आचरण करना शुरू कर देते हैं।

ताले का नियम है कि उसमें चाबी दाईं ओर घुमाई जाए तो बन्द ताला खुल जाता है, पर अगर बाईं ओर घुमा दी जाए, तो खुला ताला भी बन्द हो जाता है। बस, ज़रूरत है चाबी को किस तरफ घुमाया जाए, इसके ज्ञान की। ताला किधर से खुलेगा, आप यह तरीका जान सकते हैं, पर अगर कोई खोलना ही न चाहे, तो उसका क्या किया जाए।

कहते हैं : एक बार नारद ने प्रभु से कहा- प्रभु दुनिया में इतने पीड़ित लोग हैं और आप उद्धारक कहलाते हैं तो पीड़ितों का उद्धार क्यों नहीं कर देते ! भगवान ने नारद से ही कह दिया कि मेरी ओर से तुम ही चले जाओ और उनका उद्धार कर दो।

नारदजी पृथ्वी पर आए तो उन्हें सूअर सबसे पीड़ित नजर आया। सोचा कि इस सूअर का उद्धार करता हूँ। नारदजी सूअर का उद्धार करने के लिए उसे लेकर चले तो सूअर ने कहा- ठहरो, तुम कौन हो ? नारद ने कहा- मैं ब्रह्मलोक से आया हुआ, वहाँ का देवर्षि, राजर्षि हूँ। सूअर ने पूछा- जो भी हो, पर तुम मुझे कहाँ ले जा रहे हो ? नारद ने बताया- 'स्वर्ग में'। सूअर बोला- किसलिए ? नारद ने कहा- तुम बहुत पीड़ित हो, तुम्हारा उद्धार करने के लिए स्वर्ग ले जा रहा हूँ। सूअर ने कहा- मेरा उद्धार ही है, तुम कौनसा उद्धार करने

जा रहे हो ? नारद बोले- तुम कितने पीड़ित हो, कीचड़ में रहते हो, विष्ठा खाते हो, गंदगी में पड़े रहते हो, यह कोई जीवन है, चलो स्वर्ग में चलो। सूअर ने कहा- वहाँ क्या होगा ? नारद ने बताया- वहाँ सभी सुख-साधन, ऐश्वर्य हैं। सूअर ने पूछा- वहाँ सब कुछ है ? नारद बोले- हाँ। तब वहाँ का स्वरूप बताओ- सूअर ने जिज्ञासा की। नारद ने वहाँ के वैभव का वर्णन किया, राजसी ठाठ के बारे में बताया। सूअर ने खान-पान, रहन-सहन के बारे में जानना चाहा तो नारद ने बताया कि वहाँ इन सबकी ज़रूरत ही नहीं होती। वहाँ तो केवल रहना है, करना-धरना कुछ नहीं। बस, आराम की जिंदगी बसर करना है। तब सूअर ने कहा- अरे वहाँ तो कुछ भी नहीं है। नारदजी तुम वापस जाओ, मुझे ऐसा उद्धार नहीं करवाना है, तुम जाओ। तुम तुम्हारे सुखी रहो, हम हमारे सुखी हैं।

प्राणी जो आसक्त है, उसे वहीं अपना सारा सुख नज़र आता है, जहाँ जिस ओर उसकी आसक्ति होती है। अनगिनत लोग सत्संग सुनते हैं, पर प्रभाव कितनों पर होता है ? कभी परमात्मा के अनुग्रह से, गुरु-कृपा से कभी प्रबल पुण्य का उदय है, तब कहीं कोई संन्यास की ओर, प्रभु मार्ग की तरफ, कल्याण-पथ पर अपने क़दम बढ़ाता है। अन्यथा संसार में ही रमा रह जाता है। कहते अवश्य हैं कि पति-पत्नी संतान से परेशान हैं, पर छोड़ नहीं पाते। इन सबकी वज़ह आसक्ति है। इसलिए आज जिस सूत्र को हम लेंगे वह संसार के प्रपंचों से मुक्त करने का रास्ता देता है। अनासक्ति का अर्थ मुक्ति की प्राप्ति नहीं है। अनासक्ति का अर्थ है, जहाँ हम चिपके हुए थे, वहाँ से दो क़दम ऊपर उठना। अभी हम दो क़दम बाहर तो निकलें। जिस व्यक्ति ने पानी में डुबकी लगा दी है, वह पानी से बाहर निकलेगा, तभी तो आसमान को देखेगा। जो तालाब में से निकलने को ही तैयार नहीं है, उसके लिए मुक्ति का अर्थ ही क्या होगा। हम चार क़दम सूरज की ओर बढ़ें तो सही।

अनासक्ति मुक्ति की ओर ले जाने का रास्ता खोलती है। जब आसक्ति टूटती है, एक-एक क़दम आगे बढ़ते हैं, तब आगे की मंजिल करीब आनी शुरू होती है। हमारे भीतर की आसक्तियाँ ही हमें बाँधती हैं। आसक्ति ही बंधन है। शरीर की आसक्ति, विचारों की आसक्ति, वस्तुओं की आसक्ति, भोगों की आसक्ति, मेरी-तेरी की आसक्ति। आसक्ति के सौ रूप। जहाँ से भी चिपके, जो भी चीज़ मन पर हावी हुई, वह चीज़ आसक्ति। जिसे पाने के लिए मन

तड़पता है, जिसका वियोग हो जाने पर रातों की नीन्द हराम हो जाती है, वह हर चीज़ आसक्ति का हिस्सा बनी। कई बार ठोकरें लगाईं, फिर भी आसक्ति नहीं टूटी। कई बार उपेक्षा झेली, पर मन फिर भी उलझा ही रहा।

कुछ आसक्तियाँ ऐसी होती हैं, जो जल्दी नहीं टूटतीं। जैसे- मोहमूलक आसक्ति- बार-बार वही याद आता रहता है। दूसरी है- भोगमूलक आसक्ति, कामासक्ति कि प्रभु का स्मरण करते हुए भी वही सब धाराएँ भीतर में चलती रहती हैं। काम-भोग की धाराओं का प्रवाह हमारे मन का सबसे निचला स्तर है कि हम दो पल भी प्रभु का ध्यान नहीं कर पाते और संसार की धारा का जो निम्नतम स्तर है, उसमें उलझ जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि हमारे भीतर जो आसक्तियों की जड़ें हैं, उनमें ये सब चीज़ें व्याप्त रहती हैं। अनुपश्यना का लक्ष्य और उद्देश्य तथा परिणाम भी इन्हीं चीज़ों से जुड़ा है कि व्यक्ति अपने भीतर की इस तरह की वासनाओं का उच्छेदन किस तरह करे। हम सोचें कि आखिर हम कब तक ये सूगले काम करते रहेंगे ? कब तक यों ही उलझे रहेंगे ? गृहस्थी को जिओ पर आखिर कभी-न-कभी तो उस पर विराम लगाओ ? मरते दम तक हम गृहस्थी ही रहेंगे या वानप्रस्थ को भी जिएँगे ? मैं दाम्पत्य का विरोधी नहीं हूँ, पर भोगों का ये अंधा सिलसिला कब तक जारी रहेगा ? हम लोग क्या मुक्ति की बातें ही करते रहेंगे या मुक्ति की रोशनी भी अपने दिल में उतारेंगे। हमारे देश में धर्म-कर्म की बातें बहुत हो गई, बातों से भला नहीं होने वाला। आचरण से भला होगा। जिओ, मुक्ति को जिओ। वैसे कुछ प्रबन्ध करो, जिससे हम चार क्रम ठाकुरजी की तरफ बढ़ें, प्रभुजी की तरफ बढ़ें, निर्वाण की ओर बढ़ें।

यह सत्य है कि अपन लोगों के भीतर भोग, राग, मोह, क्रोध, द्वेष आदि की धाराएँ, इनकी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ चलती रहती हैं, लेकिन हमें इसी बात पर गौर करना है कि इनसे मुक्त कैसे हुआ जाए। यह क्रिया-प्रतिक्रिया है, जो मन में उठती है, इनका हमारे शरीर पर भी प्रभाव हो जाता है, हम कहीं और बह जाते हैं। बैठते तो हैं ध्यान करने के लिए, लेकिन मन-ही-मन वासना भोग और काम के प्रवाह में चले जाते हैं और इतने निचले स्तर पर चले जाते हैं कि हमारा उद्धार कैसे हो ?

एक भँवरे ने गोबर के कीड़े से, जिसे गुगचिया कहते हैं, कहा- तुम यहाँ क्या गोबर में, गन्दगी में पड़े रहते हो ? आओ मेरे साथ चलो मैं तुम्हें फूलों के

बगीचे की सैर करवाता हूँ। वहाँ खुशबू-ही-खुशबू है, वहाँ आनन्द-ही-आनन्द है, वहाँ कितना पराग है। भँवरा रोज उसे यही बात कहता तो गुगचिये ने सोचा चलो चले ही जाते हैं। एक दिन गुगचिया बोला- आज मैं तैयार हूँ चलो। दोनों चले, बगीचे की सैर की, सुगंधित फूल खिले हुए थे, खूब पराग भी था। घूमते हुए काफ़ी समय बीत गया तो गुगचिये ने भँवरे से कहा- तुम तो कहते थे, बहुत अच्छी खुशबू आती है, खूब पराग है, बहुत आनन्द है, लेकिन मुझे तो यहाँ कुछ भी नहीं मिला, न सुगंध, न पराग। मुझे तो वही दुर्गन्ध मिल रही है, जो वहाँ थी। भँवरा बोला- ऐसा कैसे हो सकता है ? मुझे तो खुशबू आ रही है और तुझे नहीं आ रही। वह उसे अन्य और सुगंधित पौधों के पास लेकर गया, लेकिन गुगचिये को खुशबू आई ही नहीं। तब भँवरे ने कहा- रुक, तू अपना मुँह और नाक खोल। देखा तो वहाँ गोबर भरा हुआ था। भँवरा बोला- अरे, तू जब तक अपने पहले वाले कचरे को निकालकर नहीं आएगा, तब तक तुझे इस मोक्ष और निर्वाण के उद्यान की सुगंध और आनन्द कैसे उपलब्ध हो सकेंगे ?

जब तक हम चित्त की अन्तर्शुद्धि के प्रति जागरूक नहीं होंगे, अनुपश्यना करने के लिए तत्पर नहीं होंगे, तब तक केवल मंदिर जाने से क्या हो जाएगा ? केवल धर्म की किताबों को पढ़ने से क्या होगा ? हमें अपने भीतर की शुद्धि के प्रति जागरूक होना है। अपनी आसक्तियों को, कमज़ोरियों को, कर्म के बीजों को, कर्म की प्रकृति को समझकर अपनी वर्तमान स्थिति को जानना है। बाहर से तो साधक नज़र आ सकते हैं, लेकिन भीतर तो वही वासना का गन्दा नाला बहता रहता है। लेकिन इसके प्रति सजग हो जाने पर हम इन धाराओं से धीरे-धीरे मुक्त होते जाते हैं। यह सजगता और सचेतनता ही चाहिए, यही तो साधना है।

हम लोग 'महासति पट्टान सुत्त' के कुछ सूत्रों पर विचार कर रहे हैं, पट्टान सुत्त अर्थात् भीतर में प्रवेश दिलवाने वाला सूत्र। यह सूत्र इसीलिए हमारे लिए उपयोगी है कि हम स्वयं को समझ सकें। अब हम श्री भगवान के उस सूत्र में प्रवेश करते हैं, जो हमें भोग, वासना और मोह की आसक्तियों को कम करने का तरीका बता सके। भोग, मोह और वासना की जड़ें हमारे भीतर बहुत गहरी हैं। बाहर से हम इन्सान ज़रूर दिखाई देते हैं, लेकिन अभी तक भीतर से इन्सान के स्वरूप को उपलब्ध नहीं हुए। सम्भव है हमारे भीतर अभी तक वही पशुता सक्रिय हो। हालांकि डार्विन ने विकासवाद का सिद्धान्त दिया और कहा कि

मनुष्य का विकास पशु से हुआ है। बन्दर, वनमानुष मनुष्य के पूर्वज माने गए, इसलिए अभी तक मनुष्य के अन्दर पशु जिन्दा है।

हम कम्प्यूटर युग में पहुँच गए हैं। मानव समाज ने निश्चित ही बौद्धिक और वैज्ञानिक स्तर पर आश्चर्यजनक और विलक्षण ढंग से विकास किया है, लेकिन भीतरी चित्त के विकार और वासनाओं को कम करने में किसी प्रकार की तरक्की नहीं की है। बच्चे के जन्म को तो वह भ्रूण हत्या करके रोक देता है, लेकिन अन्तरमन में चलने वाले विकारों, मानसिक विकारों को काटने का रास्ता अभी ठीक ढंग से अपने हाथ में प्राप्त नहीं कर पाया। अध्यात्म का इसीलिए उपयोग है कि यह इन्सान के भीतर के विकारों को काटने का मार्ग देता है, उन पर विजय प्राप्त करने का रास्ता देता है। इसलिए अध्यात्म चाबी है, मानव समाज के लिए कल्याणकारी चाबी। इसी से मनुष्य का मंगल होगा। भीतर के बंद ताले खुलेंगे। अनुपश्यना का मार्ग हमें भीतर से शुद्ध कर रहा है। लालटेन के ऊपर काँच का गोला होता है, अगर यह भीतर से साफ हो जाए तो चिमनी में रहने वाला प्रकाश बाहर आने लग जाएगा। जब तक भीतर की शुद्धि न हो, तब तक सब व्यर्थ है।

‘र’ से राम भी होता है और रावण भी, ‘क’ से कृष्ण भी होता है और कंस भी, ‘ग’ से गाँधी भी होता है और गोडसे भी। लेकिन हम सभी इन लोगों की प्रवृत्तियों को जानते हैं। ये ही लोग बदल भी सकते हैं। जो स्वयं की प्रकृति को सँवारने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है, वही राम, कृष्ण और गाँधी बन जाता है। एक व्यक्ति विकृत था स्वयं को संस्कारित न कर पाया। एक व्यक्ति संस्कारी था पर उसने विकृति को अपना लिया। श्रावक साँप बन गया और साँप सुधरकर सन्त बन गया। एक सन्त क्रोध में मरा, तो मरकर चंडकौशिक साँप हुआ। साँप ने शांति धारण कर ली तो मरकर भद्रकौशिक देव हुआ। महत्व योनि का नहीं है, महत्त्व भावदशाओं का है, चित्तदशाओं का है। यह बात अगर समझ में आ जाती है तो हम अपने क्रोध-मोह-विकारों को काटने में सफल हो सकते हैं।

मैं पुनः दोहरा रहा हूँ कि साधक को पाँच बातों का स्मरण हर समय रखना चाहिए— अनुपश्यना, आतापी, संप्रज्ञाशीलता, स्मृतिमान होना अर्थात् प्रतिपल जागरूक होना और राग-द्वेष से मुक्ति। अगर इनमें से एक भी चूक गया, किसी एक की भी उपेक्षा कर दी तो कमी रह ही जाएगी।

चित्रहस्थ नामक एक बौद्ध भिक्षु हुए। दीक्षा के पहले वह साधारण-सा निर्धन चरवाहा था। एक दिन जब वह पशुओं को चरा रहा था, तो रास्ते में कुछ संत-मुनि-भिक्षु मिल गए। वह भूखा था तो उसने भिक्षुओं से खाने के लिए भोजन माँगा। भिक्षुओं ने अपने पात्र में से थोड़ा खाना उसे भी दे दिया। खाना खाकर उसे आनन्द आ गया। उसने सोचा भिक्षु बनने में बड़ा फायदा है, बिना कुछ किए ही इतना अच्छा खाना मिल जाता है। वह घर गया, लेकिन उसे वही खाना याद आने लगा। दूसरे दिन वह फिर उन मुनियों के पास पहुँचा और बोला- मुझे तो दीक्षा दे दीजिए, मैं भी महाराज बनना चाहता हूँ। कुछ दिन तो उनके साथ रहा, लेकिन फिर बच्चे और पत्नी याद आने लगे। संसार और वासना की तरंगें उठने लगीं। वापस घर लौट आया। उसने भिक्षु-जीवन का त्याग कर दिया। कुछ समय तो ठीक रहा, फिर वही खाना याद आने लगा। अब फिर घर-गृहस्थी छोड़ भिक्षुओं के पास चला गया। संतों ने कहा- पहले भी तुम आए थे और सब छोड़कर यहाँ से भाग गए थे। उसने कहा- नहीं, अब नहीं जाऊँगा। मुझे भिक्षु बना दीजिए, अब नहीं भागूँगा, आप लोगों के पास ही रहूँगा। उसे पुनः दीक्षा दे दी गई। रहा थोड़े दिनों तक, खूब अच्छा खाया-पिया, लेकिन फिर वही घर-पत्नी याद आने लगे। फिर भाग गया। कहते हैं इस तरह वह छः बार संन्यासी बना और संसार में भागा। सातवीं बार जब वह आया तो संतों ने इन्कार कर दिया- नहीं, अब नहीं। तेरे कारण हमारे धर्म की अवहेलना होती है, अब तुझे भिक्षु नहीं बनाएँगे। लेकिन वह वापस नहीं गया। भिक्षुओं के साथ उनके पीछे-पीछे चलता रहा। बहुत दिन बीत गए, उन्हें भी दया आ गई और पुनः भिक्षु बना दिया।

दो-तीन वर्ष बीत गए। इस बार वह घर नहीं गया तो भिक्षुओं ने पूछा- क्या बात है, इस बार तू घर नहीं गया। चित्रहस्थ ने कहा- प्रभु! क्षमा करें, अब मुझे घर-गृहस्थी की आसक्ति नहीं रही, अब मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है। भिक्षुओं को आश्चर्य हुआ। तब वे भगवान के पास गए और कहा- वह चित्रहस्थ छः बार जा चुका था, सातवीं बार संन्यासी बना और कहता है, मुझे जाने की ज़रूरत नहीं है, घर-गृहस्थी की आसक्ति नहीं रही है। यह क्या हो गया है, हम समझ नहीं पाए। भगवान ने कहा- चित्रहस्थ ने अपने जीवन में आत्म-शुद्धि को प्राप्त कर लिया है। चित्रहस्थ अब संबोधि को उपलब्ध हो गया है। अब वह अरिहंत के समान हो गया है। भिक्षुओं ने पूछा- भगवन् आप

यह क्या कह रहे हैं ? हाँ, जब तक आसक्ति होती है, तब तक इंसान का मन कभी संन्यास और कभी गृहस्थी की ओर डोलता रहता है। लेकिन जब भीतर अनासक्ति घटित हो गई तो वह आत्म-जागृति को उपलब्ध हो गया। वह स्मृतिमान हो गया, वह संप्रज्ञानी बन गया। परिणामतः इस बार जब वह वापस आया तो लौटकर घर न गया और अनासक्त होकर स्वयं अरिहंत के समान होता चला गया- भगवान ने कहा।

जब तक हम अपनी आसक्तियों को, विकारों को, भीतरी प्रवाहों को नहीं समझेंगे, तब तक मुक्त न हो सकेंगे। इसलिए हम जो भी करें, उसका संप्रज्ञान रखें, भलीभाँति उसका प्रत्यक्ष अनुभव करें, सचेतनता के साथ उसका भोग और उपभोग करें। सचेतनता ही मुक्त करती है। यह तो वह बिन्दु है, जिसका लौकिक जगत में भी प्रयोग किया जाए तो यह सफलता का आधार बन जाती है। सजगता को साधक कोई भी नृत्यांगना रस्सी पर भी नृत्य कर सकती है। सजगता- धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक- तीनों जगह कल्याणकारी बन सकती है। जब हम चिन्तन और मनन करते हुए ठोस अनुभूति के धरातल पर पहुँचेंगे, तब यह संप्रज्ञान आध्यात्मिक परिणाम देने में भी सफल होगा।

श्री भगवान कहते हैं- कोई साधक काया को पाँव के तलवे से ऊपर की ओर और केश वाले सिर से नीचे की ओर त्वचापर्यंत नाना प्रकार की गंदगियों से भरा हुआ जान विवेचन करता है। इस काया में है- केश, रोम, नख, दाँत, त्वचा, माँस, नसें, हड्डी, मज्जा, गुर्दा, हृदय, यकृत, फुफ्फुस, प्लीहा, फेफड़े, आँत, आंत्रयोजिनी, आमाशय, पाखाना, पित्त, कफ, पीप, लहू, पसीना, चर्बी, आँसू, वसा, लार, नाक का सेडा, लार और मूत्र।

साधक जो अनुपश्यना के लिए, साधना के लिए तत्पर हुआ है, ध्यान में तत्पर हो रहा है, वह आनापान करने के लिए आती-जाती श्वासों को देखने के लिए, काया के संवेदनों को जानने के लिए, काया के उपद्रवों को शांत करने के लिए बैठ तो गया है, लेकिन यह सब हो नहीं पा रहा। जैसे ही उसका चित्त थोड़ा-सा एकाग्र होता है, कायानुपश्यना का ज्ञान तो नहीं होता, उसके अन्तरमन में धाराएँ चलनी शुरू हो जाती हैं। पूर्व में भोगे गए भोगों की, रस, रंग, रूप विषयों की अलग-अलग धाराएँ उसके भीतर बहने लग जाती हैं। वह भीतर के मकड़जाल में उलझ जाता है। कहते हैं स्वयं भगवान बुद्ध का भतीजा जिसका नाम भी सिद्धार्थ था, वह भी भगवान बुद्ध की प्रेरणा से संत बन गया।

लेकिन बीस वर्षों तक संन्यासी बने रहने के बावजूद पूर्व में भोगे गए भोगों के जंजाल से मुक्त नहीं हो पाया। जब उसने संन्यास लिया था तो उसके साथ घटना यह घटी थी कि बुद्ध आहारचर्या के लिए राजमहल में आए थे। भगवान महल में आए थे, अतः उसे भी आतिथ्य-सत्कार के लिए जाना पड़ा। आहार के बाद भगवान के साथ कुछ दूर तक जाने की भी परम्परा थी, सो पत्नी से रजा चाही कि प्रभु को कुछ दूर तक छोड़ आऊँ। पत्नी ने कहा- तुम जाओ, लेकिन मेरे बाल सूखने से पहले लौट आना।

जब बुद्ध राजमहल में आए थे, तब सिद्धार्थ पत्नी के गीले बालों को सहला रहा था, वह उसी समय स्नान करके आई थी। अचानक बुद्ध आ गए थे, उनकी आहारचर्या करवाई, उन्हें छोड़ने कुछ दूर तक जाने लगा, तब पत्नी ने कह दिया- तुम भले ही छोड़ने जाओ, प्रिये, पर वापस जल्दी लौट आना, मेरे बाल सूखें इससे पहले आ जाना। वह जाता है। बुद्ध उसे अपना भिक्षापात्र थमा देते हैं। उसकी हिम्मत नहीं होती कि मना कर सके और कहे कि प्रभु अपना पात्र वापस लीजिए, मुझे अपनी पत्नी के पास जाना है। बुद्ध के पीछे चलते-चलते विहार तक आ गया। वहाँ बुद्ध ने उपदेश दिया, उसे सुनकर अनेक लोग खड़े हो गए और भिक्षु बनने को तत्पर हो गए। वे अपने आत्म-कल्याण के लिए संन्यासी बन गए। बुद्ध ने सिद्धार्थ से पूछा- तुम्हारी क्या इच्छा है, तुम खड़े नहीं हुए। हाँ, हाँ, प्रभु मैं भी- अधिक कुछ न बोल पाया, बड़ों के सामने इन्कार करने का साहस न हुआ और वह भी भिक्षु हो गया। भिक्षु तो बन गया, धर्म-आराधना भी कर रहा है, बुद्ध शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि भी बोल रहा है, लेकिन रह-रहकर वही पत्नी की बातें याद आती रहती हैं- अहो, मेरे बाल सूखने से पहले तुम लौट आना।

अनुपश्यना इसीलिए ज़रूरी है कि हमारे भीतर इसी तरह के मायाजाल, मोहजाल, वासनाजाल बनते रहते हैं। पता नहीं कब किसका कौनसा शब्द हमें बार-बार याद आता रहता है। अतीत की कौनसी स्मृति आ जाए और हम पर हावी हो जाए। ऐसी स्थिति में हम क्या करें? महावीर ने कहा था इस स्थिति में चार चीजों की अनुप्रेक्षा करें, पुनः-पुनः चिंतन करें, पुनः-पुनः उसकी ठोस अनुभूति करें। बुद्ध और महावीर अलग-अलग दीपक भले ही हों, पर साधना के मार्ग पर अलग-अलग दीयों में एक ही ज्योति है। इसीलिए दोनों एक ही बात कहते हैं कि तुम अपनी ठोस अनुभूति, ठोस चिंतन और मनन करना। दूसरी

बात ठोस अनभूति के आधार पर निर्णय करना कि यह जो उलझे हो, क्या वह ठीक है ? महावीर ने चार अनुप्रेक्षाएँ दीं- अनित्य, अशरण, एकत्व और अन्यत्व। अणिच्चं- सब कुछ यहाँ अनित्य है। सोचो अपने साथ क्या लाए और क्या साथ ले जाओगे। गीता में भगवान कृष्ण भी यही कहते हैं। खाली हाथ आए थे, खाली हाथ जाना है, फिर क्यों इतनी मारामारी है। बुद्ध की तो शाश्वत अनुभूति है कि यहाँ सब कुछ अनित्य है, सब कुछ प्रतिपल बदल रहा है, महल खंडहर हो रहे हैं, अमीर गरीब हो रहे हैं। रावण जिसके मुकुट आकाश छुआ करते थे, वे ही धूल-धूसरित हो जाते हैं। यहाँ कुछ भी शाश्वत नहीं है, सब कुछ अनित्य, परिवर्तनशील है। बच्चा जवान होता है, जवान बूढ़ा होता है और बूढ़ा मर जाता है- सब अनित्य। हम बच्चे पैदा करते हैं, पर बेटे को बहू ले जाती है और बेटी को जंवाई। शरीर एक दिन श्मशान चला जाता है, यानी सब कुछ, सारे सम्बन्ध अनित्य। आज जिसके घर दिवाली नज़र आती है, कल उसी के घर दीवाला निकल जाता है। रावण जिस शक्ति पर घमंड करता था, वक्त आने पर वही शक्ति उसे दगा दे जाती है। सभी कुछ अनित्य। सभी कुछ अशरण। अशरण यानी यहाँ कोई शरणभूत नहीं है। लगता है ये मेरा सहारा बनेंगे अथवा वे मेरा सहारा बनेंगे। पर जब तक हम-आप समर्थ हैं, तब तक एक-दूसरे का सहारा बने हुए हैं। जब हम असमर्थ हो जाएँगे, मृत्यु के द्वार पर खड़े होंगे, तब कौन हमारा सहारा बनेगा। कोई साथ न आनेवाला है, न जानेवाला है।

सुनने वालों सुनो ध्यान से,
 सारे आज गरीब अमीर।
 सबकी ही तस्वीर रहेगी,
 नहीं रहेगा सदा शरीर।

पीछे क्या बचेगा ? केवल तस्वीर। शरीर तो सबका नश्वर है। जब तक है, तब तक है, कब किसको लकवा मार जाए, कब किसको हार्ट-अटैक हो जाए, कब कौन लुढ़क जाए, कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। इसीलिए महावीर कहते हैं- 'अशरण'।

अनाथी मुनि की कहानी आपको याद होगी। राजा श्रेणिक अनाथी मुनि के पास जाकर कहता है- अहो ! मित्र, भरी जवानी में, तुम्हारा मुख-मंडल इतना सुन्दर है, फिर भी तुमने किस कारण से संन्यास ले लिया। मुनि ने कहा-

क्योंकि मैं अनाथ हूँ। राजा ने कहा- अगर तुम अनाथ हो तो मैं तुम्हारा नाथ बनने के लिए तैयार हूँ। मुनि हँसे और बोले- जो खुद ही अनाथ है, वह मेरा नाथ क्या होगा ? राजा ने कहा- क्या कहते हो, मेरे पास राजमहल है, राजकोष है, राजसेना है और तुम कहते हो कि मैं अनाथ हूँ। मुनि ने कहा- जो गलती तुम कर रहे हो, वही गलती मैंने भी की थी। इसी तरह मेरे पास भी राजसैनिक थे, राजमहल थे, राजरानियाँ थीं। मैं बीमार पड़ गया, सोचता था, सब मेरे सहायक हैं। पर एक दिन ऐसा आया, जब राजवैद्यों ने ज़वाब दे दिया। मैं मृत्यु के निकट पहुँच गया। मुझे लगा यहाँ कोई किसी का नाथ नहीं, कोई किसी के लिए शरणभूत नहीं। मैंने मन में ठान लिया, क्योंकि वैद्यों के अनुसार तो दूसरे दिन का सूरज भी देखना मेरे नसीब में न था। मैंने ठान लिया कि अगर दूसरे दिन का सूरज उग गया तो मैं अपने जीवन के अँधेरे को दूर कर दूँगा। जन्म-जन्म के अँधेरे को दूर करने के लिए संन्यास धारण कर लूँगा। मेरे संकल्प की शक्ति समझो या प्रभु की व्यवस्था, अगला दिन भी आया, सूरज भी उगा। इसके साथ ही मैंने राजमहल छोड़ दिया, इस बोध के साथ कि यहाँ कोई किसी का शरणभूत नहीं है। कोई किसी का नाथ, स्वामी और मालिक नहीं है। तभी से मैंने अपना नाम भी 'अनाथी' रख लिया।

साधक बार-बार इस बात का चिन्तन-मनन और अनुप्रेक्षा करे। वह अनुभूति के आधार पर समझे। बुद्धि के तल पर भी समझे कि जीव अकेला आता है और अकेला ही जाता है। वह अपने शरीर को भी अपने से भिन्न समझता है, भिन्न देखता है। खुद के भीतर रहने वाली अशुचिताएँ, अपवित्रताएँ, गंदगियों को समझता है। वह समझने लगता है कि देह के किन-किन अंगों के प्रति वह कितना मोहित है, जबकि यह सारा शरीर तो गंदगियों से भरा पड़ा है। बुद्ध ने बत्तीस प्रकार की गंदगियाँ बताई हैं, जिनसे यह शरीर भरा हुआ है। जब वासना का प्रवाह चित्त में उठे, तब साधक चिंतन और मनन करे, प्रत्यक्ष अनुभूति करे कि शरीर में नख से लेकर शिख तक मैल और गंदगी भरी पड़ी है। इस देह में कुछ भी डालो, बाहर कुछ भी लगाओ। सबका परिणाम अन्ततः दुर्गंध और गंदगी ही है। देह को अच्छे से अच्छा खाना खिलाओ, पिलाओ, परिणति मल-मूत्र में ही होने वाली है। देह के ऊपर कितने भी सुगंधित द्रव्यों का उपयोग करो, सब पसीने में बह जाने वाले हैं और अन्त में पसीने की ही गन्ध आने वाली है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम खाना-पीना

या सजना-सँवरना छोड़ दें, बल्कि इनका उपयोग करते हुए सचेतनता बनी रहे, इनकी निरर्थकता का मान रहे। भोग-विलास में उलझा रहने वाला प्राणी, जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद में लोलुप-लिप्त व्यक्ति इसके विलय के प्रति भी जाग्रत रहे। निवृत्ति के दौरान जो अशुचि है, क्योंकि खाया तब तो पवित्र था, अब आठ घंटे बाद अपवित्र कैसे हो गया। इसलिए वह चिंतन-मनन करते हुए भलीभाँति जाने-अहो ! इस काया में यह क्या है। मल-मूत्र, पीप-मवाद- इस शरीर में यही सब तो भरा पड़ा है।

जैनों के चौबीस तीर्थकरों में एक तीर्थकर हुए हैं, 'मल्लि' - यह महिला तीर्थकर हैं। दुनिया में जितने भी पैगम्बर हुए, अवतार हुए, शायद उनमें से एकमात्र जैनों में इतनी हिम्मत आ सकी कि उन्होंने स्त्री को तीर्थकर मानना स्वीकार कर लिया। अन्यथा यह तो पुरुष प्रधानता वाला देश है। मैं तो आज तक नहीं समझ पाया कि कल का संत और किसी साध्वी का अस्सी साल का संन्यास पर्याय है, फिर भी वह उस संत को प्रणाम करेगी। व्यक्तिगत तौर पर मैं इस व्यवस्था का हिमायती नहीं हूँ और मानता हूँ कि यह पुरुष प्रधानता वाली बात है। केवल इसलिए साध्वी साधु को प्रणाम करे कि वह पुरुष है, तो मैं मानूँगा कि यह व्यवस्था गलत है। फिर तो लिंग महत्त्वपूर्ण हो गया- स्त्रीलिंग, पुल्लिंग। फिर चरित्र कहाँ महत्त्वपूर्ण हुआ। इसलिए मैं तो साध्वियों को हाथ जोड़कर अभिवादन करता हूँ। मैं तो पूर्व प्रव्रजित व्यक्ति फिर चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उन्हें प्रणाम करना पसंद करता हूँ। आखिर व्यक्ति का मूल्य है, व्यक्तित्व का मूल्य है, गुणों का मूल्य है, उनके आचरण, चरित्र और गुणों का सम्मान है, फिर गुण चाहे छोटे का हो या बड़े का, आदरणीय है।

हाँ, तो अब मल्लि की बात पर आते हैं- कहते हैं कि छः-छः राजकुमार एक साथ उनसे विवाह करने के लिए आतुर हो गए। नगर के बाहर तम्बू तन गए। सभी ने वहाँ अपना डेरा जमा लिया। नगर कोट के पटों-दरवाजों को घेर लिया। हर दरवाजे पर एक-एक राजकुमार ने अपनी सेना जमा ली। मल्लि के पिता ने सोचा कि वह इनसे कैसे मुकाबला करे- मौत सामने नजर आने लगी। किसे हराए। एक साथ छः राज्य आक्रमण को तत्पर। मल्लि से सलाह ली गई। उसने कहा- पिताश्री आप चिन्ता न करें, मैं सम्हाल लूँगी। आप सबको कहलवा दीजिए कि एक माह बाद मुझसे मिलने आएँ। राजा ने कहा- ठीक है बेटा, पता नहीं तू क्या करना चाहती है। मल्लि ने कहा- पिताजी, आप एक

काम करें आप हू-ब-हू मेरी स्वर्ण प्रतिमा बनवा दीजिए। एक महीने तक उस स्वर्ण प्रतिमा को मैं अपने पास रखूँगी।

एक माह बाद छहों राजकुमारों को अलग-अलग दरवाजों से महल में एकत्रित किया गया। वे चौक पड़े। छः राजकुमार। तो क्या मल्लि ने उनके साथ धोखा किया? वह किसके साथ शादी करना चाहती है। खैर, जैसे ही वे कक्ष में प्रविष्ट हुए देखा सामने स्वर्ण-प्रतिमा खड़ी हुई है। देखकर मुग्ध हो जाते हैं कि क्या सुन्दरता है, स्वर्ण की तरह चमक रही है। ऐसा रंग-रूप तो न कभी देखा, न सुना। वे उस प्रतिमा पर मोहित हो रहे थे कि तभी असली मल्लि अन्दर आती है और अन्दर आते ही प्रतिमा का ढक्कन खोल देती है। सड़ांध का भभका पूरे कक्ष में फैल जाता है। राजकुमार नाक-भौंह सिकोड़ते हुए नाक बन्द करते हैं। तभी मल्लि कहती है- क्या हुआ राजकुमारो! तुम इसी मल्लि के प्रति मोहित थे। इसी प्रतिमा को देखकर तुम लोग कह रहे थे, क्या सुन्दर नयनाभिराम रूप है, जो न देखा न सुना। राजकुमारों, जो खाना एक महीने के दौरान मैंने खाया है, वही उतना का उतना खाना इस मूर्ति में भी डाला है और परिणाम यह दुर्गंध है। मेरी यह काया भी इसी स्वर्ण प्रतिमा की तरह है, जिसमें केश, रोम, नख, मल, मूत्र, कफ, वायु, पित्त, मवाद, खून के अलावा और कुछ नहीं है। तुम लोग व्यर्थ ही इसके प्रति मोहित हो रहे हो।

मल्लि की बातें सुनकर राजकुमारों की विकार-वासनाएँ बदलने लगती हैं। ऐसी ठोस प्रत्यक्ष अनुभूति होती है कि वे विरक्त हो जाते हैं। उसके बाद उस कक्ष से सात संन्यासी बाहर निकलते हैं। एक स्वयं मल्लि और छः राजकुमार। जिन्हें स्वर्ण-प्रतिमा को देखकर और मल्लि की बातों को सुनकर किसी पूर्व जन्म की स्मृति हो आती है और उसी से प्रेरित होकर वे संन्यासी बन जाते हैं और आध्यात्मिक साधना करने के लिए तत्पर होते हैं। वे सच्ची अनुपश्यना करते हुए अपने जीवन में बुद्धत्व का कमल, तीर्थंकर और अरिहंत की श्रेणी को प्राप्त होते हैं। वे उस उच्च पद को उपलब्ध करते हैं, जिसे हम मोक्ष और महापरिनिर्वाण कहते हैं।

धन्य हैं वे लोग जिन्होंने जीवन की धन्यता प्राप्त की, अपने आध्यात्मिक कल्याण को उपलब्ध हुए। इसका रास्ता निकलता है अनुपश्यना से। काया में रही हुई अशुचिता को भलीभाँति देखने से, जानने से, उसके बारे में चिंतन-मनन करने से। ध्यान, अनुपश्यना, चिंतन-मनन सभी मार्ग हैं। जब कई पगडंडियाँ

मिलती हैं तो राजमार्ग का निर्माण होता है। वह राजमार्ग जो हमें पवित्रता, मुक्ति दे रहा है, भीतर से कमल की तरह ऊपर उठा रहा है, अनासक्ति प्रदान कर रहा है। वही सच्चा मार्ग है। ज्यों-ज्यों अनुपश्यना गहरी होगी, त्यों-त्यों आसक्तियाँ भी ज़रूर टूटेंगी। आसक्ति संसार और मृत्यु का मार्ग है और अनासक्ति अमृत का, महापरिनिर्वाण का मार्ग है। हम सभी इस मार्ग के अध्येता बनें, इसी मंगल भावना के साथ- नमस्कार।



8

वासना के चक्रव्यूह से कैसे निकलें

एक बालक अपनी कक्षा में बैठा हुआ किसी खास विषय पर चिंतन कर रहा था। उस समय देश का माहौल आज़ादी के जुनून से भरा हुआ था। बालक विचारमग्न था कि कक्षा-अध्यापक उसके पास पहुँचे और बोले- क्या बात है बेटा, किस बात पर विचार कर रहे हो। बच्चे ने कहा- ऐसे ही किसी खास विषय पर सोच रहा हूँ। अध्यापक ने कहा- क्या तुम आज़ादी के बारे में सोच रहे हो ? बच्चा चौंका और हामी भरते हुए उनकी बात स्वीकार की। अध्यापक ने कहा- लेकिन क्या आज़ादी मिलना इतना आसान है ? बालक खड़ा हो गया और बोला- आज़ादी मिलना आसान तो नहीं है लेकिन आज़ादी मिलने के रास्ते को आसान ज़रूर बनाया जा सकता है। यह घटना शहीद भगतसिंह के जीवन से संबंधित है जो बताती है कि आज़ादी मिलना आसान भले ही न हो, पर उसके रास्तों को आसान ज़रूर बनाया जा सकता है।

किसी भी व्यक्ति के लिए मुक्ति, निर्वाण या सत्य से साक्षात्कार करना इतना सरल काम नहीं है जितना कि समझा जाता है। भले ही यह कठिन हो

लेकिन जो इसके प्रति गंभीर है, जो इस रास्ते पर गंभीरता से चल पड़ता है वह अपनी शांति, मुक्ति और सच्चिदानंद स्वरूप की प्राप्ति का प्रयत्न अवश्य कर सकता है, वह सफल अवश्य हो सकता है। केवल दिल में चाहत चाहिए। आग तो दिल में है ही, केवल उसे जगाने की ज़रूरत है। इन्सान के सामने रास्ता स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वह अपने जीवन में क्या लक्ष्य रखता है और इसे प्राप्त करने के लिए क्या प्रयास कर रहा है। अगर हमारे सामने रास्ता हो और लक्ष्य न हो तो हम उस रास्ते पर चल ही न पाएँगे। लक्ष्य हो और उसे प्राप्त करने का तरीका मालूम न हो तब भी हम लक्ष्य को उपलब्ध न कर पाएँगे। साधक के सामने वस्तु-स्थिति और परिस्थिति स्पष्ट हो जानी चाहिए। मीन की आँख की तरह अर्जुन के सामने स्पष्ट लक्ष्य था और उसने शर-संधान किया।

भगवान बुद्ध मानव मात्र की मुक्ति का पैगाम दे रहे हैं। वे स्वयं भी मुक्त हो चुके हैं और प्राणीमात्र की मुक्ति का ही सपना देखते हैं, वे सबकी मुक्ति की ही मंगल कामना करते हैं। वे हमें बताते हैं कि इन्सान को किन चीजों से मुक्त होना है, वह किन चीजों से बँधा हुआ है। संसार में व्यक्ति मुख्य रूप से दो ही चीजों से बँधा है। पहला है- मोह और दूसरा है- अन्तरमन में चलने वाली काम वासना की वृत्ति। जब तक ये दो तत्त्व हैं तब तक हम संसार में हैं। इन दो तत्त्वों से ऊपर उठ जाएँ तो हम मोक्ष और निर्वाण की ओर हैं। जब तक हमारे मन में मुक्ति का भाव उत्पन्न नहीं होगा तब तक हम इस कीचड़ में से न निकल सकेंगे। संसार का रस-रंग, संसार का मोह, मानव शरीर के विकार हम पर इतने हावी हैं कि इन विकारों से निर्विकार होने का, मोह से निर्मोह या वीतमोह होने का मानस ही नहीं बनाते। हम इस बारे में सोचते भी नहीं हैं। हाँ, अगर कोई निर्णय कर ले, निश्चय कर ले तो वह निश्चित ही आगे-आगे बढ़ता जाएगा।

श्री भगवान कहते हैं कि इन्सान भोगों में अंधा बना हुआ है। सारे धर्मशास्त्र यही कहते हैं कि प्रत्येक साधक के लिए शील और ब्रह्मचर्य अनिवार्य रूप से पालन करने योग्य होता है। लेकिन धर्मशास्त्र में लिख देने मात्र से क्या कोई साधक शीलव्रती या ब्रह्मचारी हो ही जाएगा ? सम्भव है संन्यास लेने से वह अपने तन को तो काबू में रख ले, पर मन में उठने वाली तरंगों, दूषित भावों को वह कैसे रोकेगा ? इनका परिष्कार कैसे करेगा ? ब्रह्मचर्य और शीलव्रत को धारण करना उन्हीं के लिए संभव होता है जो किसी गजराज की तरह बलवान

होते हैं। उनका मनोबल और आत्मबल पूरा प्रखर होता है, वे ही मन, वचन, काया से शील और ब्रह्मचर्य का पालन कर पाते हैं। शेष तो काम वासना के प्रवाह में बहते चले जाते हैं। कितने लोग तो ऐसे होते हैं जिनमें किनारे लगने के भाव ही नहीं उठते। कुछ के भाव उठ जाते हैं तो किनारा नहीं मिलता। कुछ को किनारा मिल जाता है तो नदी का प्रवाह उन्हें आकर्षित करता है और वे वापस जाकर उसमें डूब जाते हैं। इसलिए जो भी भोगों के इन प्रवाहों को समझेगा वही इनसे बाहर निकलने की थोड़ी-सी इच्छा, थोड़ी-सी आध्यात्मिक अन्तर-भावना पैदा कर सकेगा।

मनुष्य के अंदर भोग की तीन श्रेणियाँ होती हैं- सामान्य प्राणी जिनमें भोग की भी सामान्य तमन्नाएँ जगा करती हैं। मानवीय प्रकृति के अनुरूप क्योंकि हम जो अन्न-जल ग्रहण करते हैं उससे केवल शारीरिक बल ही नहीं मिलता अपितु भोग-प्रधान बल भी मिलता है। दूसरे होते हैं जिनमें तीव्र भोग लालसा रहती है। इधर चिंगारी उठी उधर शोला भड़का। इनके भीतर भोग की तमन्ना इतनी अधिक होती है कि वे हर समय वासना के प्रवाह में बहते रहते हैं। ऐसे लोग मंदिर में जाकर भी भोग की तरंगों में डूबे रहते हैं। पूजा, व्रत, आराधना के समय भी वही भोग की तरंगें उठती रहती हैं। ध्यान के समय भी पूर्व में भोगे गए भोगों का स्मरण या और भोग भोगने हैं उसकी तरंग। ययाति की तरह उनके भीतर इस तरह की कामनाएँ उठती रहती हैं। ये कभी शांत ही नहीं होतीं। तीसरे प्रकार के भोगियों को मैं अत्यधिक प्रगाढ़ भोगी कहता हूँ। वासना के, काम के अंधे जो व्यभिचारी होते हैं। ऐसे लोगों के भीतर वेश्यालय जाने की तमन्ना रहती है। पराई स्त्री और स्व-स्त्री का कोई विवेक नहीं रहता। उनके लिए नारी मात्र देह होती है। वे कामान्ध बने माँ-बहिन, पुत्री तक को नहीं छोड़ते।

हम स्वयं की अन्तर्दशा को देखें। भीतर के प्रवाह को जानें जिससे प्रेरित होकर मनुष्य संसार में जीता है, प्रवेश करता है। हमें खुद ही अपना मूल्यांकन करना होगा। किस दशा में हम जी रहे हैं। सामान्य दशा वालों के मन में तो गुरुजनों का सत्संग सुनकर, उनके सान्निध्य में बैठकर, धर्मशास्त्रों का श्रवण करके ही निर्मलता, पवित्रता और उज्ज्वलता साकार होने लगती है। उन्हें ब्रह्मचर्य पालन करने में, शीलव्रत धारण करने में बहुत अधिक हुज्जत नहीं करना पड़ती। दूसरे किस्म के लोगों के मन में बात उतरती ही नहीं। लेकिन

समझाने पर, नियम आदि दिलवाने पर थोड़े राजी हो जाते हैं। लेकिन तीसरी किस्म की प्रकृति के लोग तो धर्म की शरण में जाएँगे ही नहीं। अगर चले भी गए तो मंदिर में जाकर देवी प्रतिमा को देखकर उनके भीतर दैवीय भाव जाग्रत नहीं होंगे, बल्कि दूषित, कुत्सित भाव ही उठते हैं।

पुरानी धार्मिक कहानी है राजुल और रथनेमि की। हम सभी जानते हैं कि नेमिकुमार या अरिष्टनेमी जब शादी करने के लिए बारात लेकर जा रहे थे तभी उन्होंने पशुओं की करुण चीत्कार सुनी। पूछने पर ज्ञात हुआ कि बारातियों को जो भोजन परोसा जाएगा वह इन्हीं पशुओं के मांस से बनेगा। इसीलिए वे चीत्कार कर रहे हैं। नेमिकुमार उस चीत्कार को सुनकर इतने द्रवित हो गए कि उन्होंने कहा— मैं ऐसा विवाह नहीं करूँगा जिसमें मेरे कारण हजारों पशुओं का वध किया जाए। अपने विवाह को त्याग कर नेमिकुमार गिरनार की ओर निकल जाते हैं। उनके पीछे राजुल भी इसी भावना से चल देती है कि मन से उसने नेमि का वरण कर लिया है। अतः अब वह विवाह नहीं करेगी। नेमिकुमार मुनि बन गए। जिस दिन उन्हें केवल ज्ञान हुआ, राजुल ने भी दीक्षा ले ली। श्वेत वस्त्र धारण किए हुए राजुल व अन्य साध्वियाँ उनके पास जाने को उद्यत हुईं कि रास्ते में अचानक तेज बारिश होने लगी। सारे वस्त्र भीग गए। सभी साध्वियाँ बारिश से बचने के लिए इधर-उधर की गुफाओं में शरण लेती हैं। राजुल भी एक गुफा में घुस जाती है। गीले वस्त्रों का पानी निचोड़ने के लिए वह वस्त्र उतारती है कि तभी बिजली चमकती है। वहाँ गुफा में एक अन्य व्यक्ति साधना के लिए बैठा था। वह अन्य कोई नहीं, नेमिकुमार का चचेरा भाई रथनेमि होता है। रिश्ते में वह राजुल का देवर हो गया। जैसे ही उसने राजुल को देखा, मन में विचार उठा मेरे बड़े भाई तो संत बन गए और मैं भी साधना में लग गया हूँ लेकिन सामने यह क्या अद्भुत रूप है, सौन्दर्य है, नूर है। राजुल के निर्वस्त्र रूप को देखकर रथनेमि का चित्त विचलित हो गया। वह उद्विग्न होकर, साधना छोड़कर राजुल के सामने आने लगता है। पाँवों की आहट सुनकर राजुल चौंक जाती है कि गुफा में दूसरा कौन है। वह जल्दी से वस्त्र लपेटती है कि रथनेमि उसका हाथ बीच में ही पकड़कर प्रणय-याचना करने लगता है। कहता है— यहाँ कोई देखने वाला नहीं है, आओ राजुल ! हम उन्मुक्त भोगों का आनन्द लेते हैं। अभी तो जवानी है, बाद में संन्यास ले लेंगे जीवन का कल्याण कर लेंगे।

राजुल ने उसे पहचान लिया कि वह उसका देवर रथनेमि है। वह कहती

है- धिक्कार है तुम्हें। तुम मेरे देवर होकर इस तरह की कुत्सित, गलत, दूषित, व्यभिचारपूर्ण बात रखते हो ? सोचो, तुम्हारे बड़े भाई ने तो मेरा त्याग कर दिया और तुम त्यागी हुई चीज को पुनः ग्रहण करने को आतुर हो रहे हो ? एक कुत्ता ही स्वयं का या दूसरे का वमन किया हुआ ग्रहण करता है। तुम मेरे देवर हो या संत हो या उस श्वान की श्रेणी में हो ? फिर भी रथनेमि पुनः अनुनय-विनय करता है। राजुल कहती है- रथनेमि तुम उस निकृष्ट साँप की तरह हो, जो अपना या दूसरे का विष भी दुबारा ग्रहण कर लेता है। तुम्हें तो उस विषगंधा सर्प की तरह बनना चाहिए जो किसी भी स्थिति में अपने या दूसरे के द्वारा छोड़े गए विष को ग्रहण नहीं करता चाहे मरना ही क्यों न पड़ जाए।

राजुल के वचनों को सुनकर रथनेमि स्तब्ध रह जाता है। राजुल कहती चली जाती है- रथनेमि, अपने बड़े भाई को देखो जो गिरनार की गोद में किसी शिखर पर बैठकर साधनारत है और तुम जो संत बन चुके हो और क्या करने जा रहे हो ! मैं तुम्हारे भाई की दासी, उनकी सेवा करने जा रही हूँ और तुम गुफाओं के सघन अंधकार में भी अपने मन को ठीक नहीं कर पाए ! सोचो यह तो मैं तुम्हारी भाभी निकली, अन्य कोई होती तो ? जैसे कुएँ पर रहट स्थिर नहीं रहता उसी तरह अगर तुम्हारा चित्त स्थिर न रहा तो तुम साधना कैसे कर पाओगे ? राजुल के वचनों को सुनकर रथनेमि आत्म-जाग्रत हो जाता है। भाभी के सामने प्रायश्चित्त करता है और भाभी के साथ अपने बड़े भाई के पास जाता है और अपने द्वारा किए गए कृत, कारित और अनुमोदित शब्द तथा भावधाराओं के लिए प्रायश्चित्त करता है और अपनी मुक्त तथा कैवल्य दशा को उपलब्ध करता है।

इस तरह कुछ लोग सामान्य भोग वासनाओं से ग्रसित होते हैं, कुछ उनसे अधिक ग्रस्त रहते हैं लेकिन कुछ अत्यधिक प्रगाढ़ दूषित मानसिकता वाले होते हैं जो किसी भी गलत कार्य को करते हुए हिचकिचाते नहीं हैं। उनके लिए, नियम, संयम, मर्यादा के कोई मायने नहीं होते, न ही पवित्रता का कोई अर्थ होता है। एक आदर्श स्थिति होती है कि नहीं गिरना चाहिए, लेकिन दूसरी स्थिति होती है यथार्थ जिसमें इन्सान बार-बार गिर जाता है। साधक जो साधना के लिए तत्पर हैं उनमें से कुछ की धाराएँ पहले से ही निर्मल होती हैं। इस कारण वे शीघ्र ही अपने उदय और विलय से साक्षात्कार करने लगते हैं। लेकिन कुछ लोग अपने शरीर के गुणधर्मों की अनुपश्यना नहीं कर पाते। वे आनापान नहीं

कर पाते, जैसे ही वे शांति से बैठते हैं उनके भँवरजाल उठने लगते हैं। उसकी पुरानी यादें, उसके भोग, उसकी वासनाएँ, उसकी तृष्णा सब चक्कर लगाने लगती हैं।

सामान्य श्रेणी के लोगों के लिए श्री भगवान कहते हैं- वह व्यक्ति भली-भाँति अपने-आप में जाने, भलीभाँति अपने-आप में चिंतन करे, भलीभाँति जगत के पदार्थों को समझते हुए देखे कि इस काया में क्या है। इस काया में है पृथ्वी धातु, जल धातु, अग्नि धातु, वायु धातु। और इस काया में क्या है। जिनमें सामान्य मोह और भोग की वासना होती है, वे भलीभाँति सोचते भी हैं, चिंतन भी करते हैं और देखते भी हैं। हमारा शरीर पंचतत्त्वों से बना है, तुलसीदासजी कहते हैं-

क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा,
पंचभूत रचित अधम शरीरा।

साधक इन पाँच तत्त्वों को देखता है कि ये क्या है ? हड्डियाँ हमारे शरीर का ठोस पदार्थ हैं- यह पृथ्वी धातु है। शरीर में बहता हुआ रक्त, मूत्र-जल धातु है। कभी हमें गर्मी का तो कभी शीतलता का अहसास होता है, और तो और अगर हम अपनी श्वास पर ध्यान दें तो पाएँगे कि दाएँ नासापुट से चलने वाली श्वास गर्म होती है और बाईं नासिका से चलने वाली श्वास ठंडी होती है। ऊष्णता और शीतलता का अहसास अग्नि धातु है। जैसे बिजली से हीटर भी चलता है और ए.सी. भी, दोनों के पीछे एक ही ऊर्जा कार्य करती है। हमारे शरीर की अग्नि-धातु कभी हमें सर्दी का और कभी गर्मी का अहसास देती है। भोजन पचने की व्यवस्था भी अग्नि का कार्य है, जठराग्नि भी अग्नि धातु है। चौथी धातु वायु है। हमारा श्वसन तंत्र वायु से संचालित होता है। हमारे शरीर में पाँच प्रकार की वायु होती है- पान, अपान, समान, व्यान और उदान। एक वायु हमारी छाती में, हृदय में भरी रहती है, दूसरी हमारे पेट में मलद्वार की ओर भरी रहती है, तीसरी वायु छाती से ऊपर मस्तक के भाग तक व्याप्त रहती है, चौथी वायु सूक्ष्म रूप से हमारे पूरे शरीर में व्याप्त होती है।

साधना में उतरने वाला व्यक्ति कायानुपश्यना करता हुआ जानता है कि उसकी काया में चार प्रकार की धातु व्याप्त है और वह इन धातुओं के बारे में भलीभाँति चिंतन और मनन भी करता है। वह देखता भी है और स्वयं में अनुभव भी करता है। चौबीसों घंटे न हम चिंतन कर सकते हैं, न देख सकते हैं, न ही समझ सकते हैं। इसीलिए जब ध्यान में उतरते हैं तब

वास्तविक रूप से अनुपश्यना करते हैं और अपनी धातुओं को, संवेदनों को, शीतल-ऊष्ण अहसासों को देखते हैं, विचार और चिंतन-मनन भी करते हैं। ठोस अनुभूति प्राप्त करने के लिए इन सबसे गुजरना होता है। तभी ठोस सत्य से साक्षात्कार होता है।

जिनके भीतर सामान्य से अधिक मोह का, भोग का भाव है उनके लिए श्री भगवान कहते हैं- ऐसे व्यक्ति पुनः पुनः चिंतन, मनन, अनुपश्यना करें, पुनः पुनः ठोस सत्य को समझने का प्रयत्न करें कि इस शरीर में क्या है ! वह चिंतन करे कि इस शरीर में अशुचिता है, गंदगी है, मल-मूत्र, मवाद, माँस-मज्जा-रुधिर आदि भरा हुआ है। पता नहीं क्यों, हमें प्रभु जितने प्रिय होते हैं, उससे अधिक अशुचिताएँ, गंदगियाँ पसंद होती हैं। हमें अपनी बाह्य देह तो दिखाई देती है, पर इसके अंदर क्या-क्या भरा है, वह नज़र नहीं आता। हमारा जन्म जिस माँ की कोख से होता है, वहाँ भी गंदगी ही होती है। प्रजनन-प्रक्रिया भी गंदगी का ही मिलाप है। हमारे भाव भी गंदगी के ही रहते हैं। गंदगी में ही जीते हैं और गंदगी में ही मर जाना पसंद करते हैं। हमें तो मरते समय भी भगवान याद नहीं आते। तब भी पति या पत्नी ही याद आती है। माँ-पिता भी याद नहीं आते, बच्चे याद आते हैं, भाइयों को तो कौन पूछे ! यह जीवन की सच्चाई है।

इन्सान के जीवन में जो दूसरी स्थिति बनती है, ऐसे लोगों के लिए श्री भगवान कहते हैं उन्हें चिंतन और मनन करना चाहिए, उन्हें बार-बार सोचना चाहिए-सहजात्म स्वरूप परमगुरु- आत्मा का सहज स्वरूप ही मेरा परम गुरु है, मुझे अब आत्म-उद्धार के लिए लग जाना चाहिए। मेरे लिए क्या परिवार, क्या पति, क्या पत्नी !

मौत आए उससे पहले एक बार मर जाना है। मौत आई तो हमें पूरी तरह मारकर चली जाएगी। लेकिन इससे पहले अपनी दुनियादारी से मर जाओगे तो सचमुच अपनी मुक्ति का प्रबंध कर सकोगे, प्रभु को सच्चा प्रेम कर सकोगे। नहीं तो वही संसार और उसके भोग याद आते रहेंगे। गुरु गोरखनाथ कहते हैं : 'मरो हे जोगी मरो।'

मोह की धारा को तोड़ो, नहीं तो यह बहुत कष्ट देगा, बहुत रुलाएगा। दूसरे किस्म के लोग जो ज्यादा मोह में, वासना में पड़े हैं, भगवान उनके लिए कहते हैं तुम सोचो, विचार करो और देखो कि इस काया में क्या है ! महापुरुषों की काया में और हमारी काया में कोई फ़र्क नहीं है। सभी की काया एक जैसी है। सबकी काया अन्नधर्मा, रोगधर्मा, भोगधर्मा, मरणधर्मा है। आज हम जो

राम, कृष्ण या महावीर की पूजा करते हैं तो क्या उनकी काया की पूजा करते हैं ? नहीं। हम तो उनकी आत्मा की, उनके त्याग की, उनके महान सद्कर्मों की, महाकरुणा और मर्यादाओं की पूजा करते हैं। जब आप मेरे पास आते हैं और मुझे नमन करते हैं तो क्या आप इस काया को, इस वेश को नमन करते हैं ? अरे काया में क्या है ? वेश में भी क्या रखा है ? व्यक्ति के गुणों को नमन किया जाना चाहिए, उसके अंदर जो ताकत है उसका अभिनंदन हो ! शेष तो सभी की काया एक जैसी है।

पति ने पत्नी से कहा- हर रोज क्यों इतनी लिपिस्टिक लगाती हो ? आधी तो तुम्हारे पेट में ही चली जाती होगी ! पत्नी ने झट से किचोटी भरते हुए कहा- क्यों टोंट कसते हो ? चौथाई तो आपके पेट में भी जाती होगी।

सब एक जैसे हैं। सबकी ऐसी ही मिलती-जुलती कहानी है। हमें संयम की ओर विश्वास के क्रम बढ़ाने चाहिए। मुक्त रहना या मुक्त होना अच्छी बात है, पर अगर अभी मुक्त हो ही नहीं पा रहे, तो कोई बात नहीं, जिंदगी में एक उम्र निर्धारित कर लो कि अमुक उम्र के बाद शांति धारण कर लेंगे, अमुक उम्र के बाद पवित्रता से रहेंगे, पवित्रता को जिएँगे। भले ही वह उम्र 50 की करो, 60 की करो, 70 की करो, पर कर लो। पहले ज़माने में 100 की उम्र होती थी, तो लोग 50 की उम्र में फ्री हो जाते थे। गृहस्थी में क्रम रखा है तो क्या मरते दम तक भोग की ही खिड़कियाँ खोलते रहेंगे ? अब औसत उम्र 70 की मानें तो 35 छोड़ो, 50 छोड़ो, 60 में तो फ्री होने का संकल्प धारण कर लो। कोई ययाति-आत्मा है, तो 60 को भी हटाओ, 65-70 की उम्र में तो मुक्त हो ही जाओ। क्या बताएँ, दाँत गिर गए, पर भोग के भाव नहीं गिरे। बाल सफेद हो गए, मगर दिल अभी भी काला है। मृत्यु हमें मुक्त करने जा रही है, पर हम मुक्त होने का नाम ही नहीं लेते। जो चीज़ हमें 36 में पा लेनी चाहिए, हम 63 में भी उसे नहीं पा रहे हैं।

सोचो, सोच-सोचकर सोचो कि जो मन 36 साल में, 63 साल में तृप्त न हुआ, क्या वो अब हो पाएगा ? अभी से अभ्यास में लेना शुरू कर दें। शाम को रसगुल्ले-राजभोग खाए, बड़े चटकारे-ले-लेकर, पर सवेरे वाली गाड़ी से क्या निकला ? अशुचिता पर गौर करें और इस तरह आत्म-मनन करके स्वयं को भोजन और भोगों के प्रति रहने वाली लिप्सा से मुक्त करें। भोजन के बारे में संयम-दिन में 2 बार या चार बार से ज़्यादा मुँह जूठा नहीं करेंगे। एक बार के

भोजन में 10 द्रव्यों से ज्यादा ग्रहण नहीं करेंगे। यह जिह्वा का संयम हुआ। व्रत-उपवास नहीं होते, पर आहार-संयम तो हो ही सकता है। भोग की दहलीज पर क़दम रखें तो अगले सात दिन के लिए संयम रखूंगा। पहले सप्ताह-सप्ताह का संयम रखें, फिर पखवाड़ा और महीने का। जब लगे, हम वर्षभर संयम से जीने में सफल हो गए, तो घर में रहते हुए भी संन्यासी बन जाएँ। महावीर और बुद्ध बन जाएँ।

हमें ऐसे स्थानों पर जाने से बचना चाहिए जहाँ जाकर मन में विकारों की प्रबलता बढ़ती है। विवाह के बाद नव-विवाहित घूमने के लिए हिल स्टेशनों पर जाते हैं। मेरा मानना है कि सद्विचार वाले लोगों को ऐसे स्थानों पर नहीं जाना चाहिए। वहाँ के होटलों में जाकर दूषित भावना ही उत्पन्न होती है। सैक्सी वातावरण में जाओगे, तो सैक्स और भड़केगा ही। आप धर्म स्थानों पर तीर्थयात्रा के लिए परिवार के साथ जाएँ, आपका भावी जीवन निर्मल रहेगा, सुख-शांति, प्रेम और धर्ममय रहेगा।

तीसरी किस्म के लोगों का मन और उनकी काया अत्यधिक दूषित विचारों, संस्कारों, संवेदनाओं से भरी होती है कि उन्हें मंदिर में भी मदिरालय नज़र आता है। ऐसे लोगों को गहन चिकित्सा की आवश्यकता है। उनके लिए छोटी-मोटी साधना-पद्धतियाँ काम नहीं आती। उनका मोक्ष और निर्वाण भी एक बड़ी तपस्या है। उनके लिए भगवान ने जो कहा वह साधना श्मशान-पर्व से जुड़ी हुई है। अर्थात् ऐसे साधक को श्मशान में जाना चाहिए और वहाँ बैठकर अपनी साधना करनी चाहिए। हालांकि वह वहाँ भी इतनी जल्दी साधना न कर पाएगा। वहाँ भी उसके अन्दर कुछ और चलने लगेगा। वह सबसे पहले तो यही सोचेगा कि कहाँ आ गया ? ऐसे लोगों के लिए श्री भगवान कहते हैं- वह श्मशान में जाए, एक दिन रहे, दो दिन रहे, पाँच दिन रहे, दस दिन रहे, आवश्यकता होने पर दो महीने तक लगातार रहे और अपने सामने पड़ी हुई एक दिन पुरानी लाश को देखे, दो दिन पुरानी लाश को देखे, तीन दिन पुरानी लाशों को देखे, फूली हुई लाशों को देखे, सड़े हुए मरियल कुत्तों को देखे। जिन जानवरों के शरीर फूल चुके हैं, उनको देखे। ऐसी लाशें जिन्हें कोई जलाने वाला नहीं है, उन लाशों को वह देखे। उनके शरीर में हो चुके घावों को देखे। कुत्ते और गीदड़ द्वारा नोचे गए घावों को देखे और भलीभाँति चिंतन, मनन, विचार करे, देखे, जाने और ठोस अनुभूति करे कि जैसा हाल इस काया का हो

रहा है वैसा ही मेरी काया का भी हो सकता है। मेरा शरीर, मेरी आत्मा, चेतना, प्राणों के निकल जाने पर जैसे एक दिन पुरानी लाश दिखाई दे रही है, वैसी मेरे शरीर की दशा होगी।

पदयात्रा करते हुए, सड़क पर चलते हुए हम लोगों ने कई बार कितने ही पशुओं को मरा पड़ा देखा है। उसका पेट फूल रहा है, आँतें फट जाती हैं। कुत्ते, चील, गिद्ध, कौए उस लाश को नोचते हैं। ऐसी स्थिति में साधक नाक-भौंह न सिकोड़े बल्कि दो मिनट वहाँ खड़ा रहकर उसे भलीभाँति देखे, समझे, चिंतन करे और जाने कि यह है काया ! यह आत्मा का बड़ा ऑपरेशन है। ऐसे लोगों को केवल सत्संग काम नहीं आता, गुरुवाणी काम नहीं आती। जो दूषित, कुत्सित और कुंठित मन के हैं उन्हें तो श्मशान में जाकर बैठना चाहिए। ऐसे लोगों के लिए मंदिर, मस्जिद किसी काम के नहीं हैं। देवी के मंदिर में भी उनकी मनोदशाएँ ! गिद्ध आकाश में कितनी अधिक ऊँचाई पर उड़ता है, पर उसकी नज़र ज़मीन पर पड़े माँस के लोथड़े, लाशों को ही देखती रहती है। व्यभिचारी भी गिद्ध के समान होते हैं। चोर की नज़रें चोरी पर, जुआरी की नज़रें जुए पर और व्यभिचारी की नज़रें स्त्री या पुरुषों पर लगी रहती हैं। श्री भगवान कहते हैं ऐसे लोगों को श्मशान में दो-दो महीने रहना चाहिए।

हमारे देश में हिन्दू समाज की एक परम्परा है कि मृत देह को जलाने के बाद उसकी अस्थियाँ एकत्रित कर किसी पवित्र नदी या समुद्र में प्रवाहित कर दी जाती हैं। यह एक श्रेष्ठ परम्परा है लेकिन इसका आध्यात्मिक अर्थ समझें। जब श्मशान जाएँ तो समझें कि यह है काया। हम अपने परिजनों को कितना प्यार करते हैं लेकिन लाश को देखकर जानें कि व्यर्थ ही प्यार करता था। यह तो जलकर राख में परिणत हो गया। जलती हुई लाश को देखकर वहाँ ध्यान करें। जीवन में साधना करने के लिए, ध्यान धरने के लिए, अनुपश्यना करने के लिए, सत्य से साक्षात्कार करने के लिए जलती हुई लाश से बेहतर और बढ़िया, साधन नहीं है। उसे देखें और समझें। सम्यक् दर्शन करें, सम्यक् ज्ञान करें। इसी से मुक्ति-पथ प्रशस्त होगा।

श्रीमद् राजचंद्र, जिन्हें गाँधीजी ने भी अपना गुरु माना, उनकी अध्यात्म-साधना की शुरुआत ऐसे ही हुई। उनके काका का निधन हो गया। परिवार के लोग उन्हें जलाने के लिए ले जाने लगे। बालक राजचंद्र ने सोचा इन्होंने हमारे काका को रस्सियों से क्यों बाँधा है, लकड़ियों पर क्यों लिटाया है,

कपड़े से क्यों ढँका है, ये लोग इन्हें कहाँ ले जा रहे हैं ? पीछे-पीछे वह भी चला, श्मशान पहुँचा। वहाँ पर वह एक पेड़ पर चढ़कर देखने लगा कि यह सब क्या हो रहा है। लाश को चिता पर चढ़ाकर आग लगा दी जाती है, घी डाला जाता है, लाश धूँ-धूँ कर जल उठती है। वह पेड़ पर बैठा-बैठा सारा दृश्य देखता रहता है। जलती चिता को देखना सत्य से साक्षात्कार करने का महान यज्ञ है। लोग चले जाते हैं, बच्चा फिर भी वहीं बैठा रहता है। चिंतन करता है, उसे समझ में आता है कि यह है काया ! यह है जीवन और जीवन की अनित्यता वहीं बैठे हुए बालक को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आता है, विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता है, बोधि-लाभ अर्जित हो जाता है।

साधक अपनी काया के तत्त्वों को समझे, उसमें होने वाले उपद्रवों को भी समझे, काया के प्रपंचों को, वर्तमान कमजोरियों को समझे और देखे कि वह अपनी काया, साँस, आनापान की किस तरह से साधना कर सकता है। हमें अधिक से अधिक साक्षी भाव को विकसित करना होता है। सभी को श्मशान जाने की ज़रूरत नहीं है। श्मशान-पर्व केवल उन्हीं के लिए है, जिनके मन की अवस्थाएँ अत्यन्त दूषित हैं। अन्यथा सहज ही साधना और अनुपश्यना हो जाती है। हमें अनुपश्यना, आनापान और आत्म-साधना ही करना है। समाधि हम प्राप्त नहीं कर पाते क्योंकि चित्त के दूषित तत्त्व प्रभावित करते रहते हैं। इन दूषित तत्त्वों से मुक्त होना पहली अनिवार्यता है। जैसे ही लगे कि विचार शांत हो गए हैं, पुनः आनापान और साक्षीभाव आने लगता है। जो भीतर का साक्षी नहीं हो पाता उसे ही अलग-अलग प्रकार के ध्यान करने होते हैं। जिन्हें सहज में ही आनन्द है, शांति, मौन, मुक्तदशा है उन्हें इनमें से किसी भी चीज़ को करने की ज़रूरत नहीं होती। लेकिन अभी हम इस अवस्था तक नहीं पहुँचे हैं और हमें ध्यान-साधना की आवश्यकता है। किसे कौन-सी पद्धति उपयुक्त है, यह उसकी चित्त की अवस्था को देखकर ही जाना जा सकता है। साधक को साक्षी भाव अधिक से अधिक विकसित करना होता है और अपने भीतर के दुःख-दौर्मनस्य का अवसान करना होता है और अपनी मोह-वासनाओं से ऊपर उठना होता है। आप सभी अपने-अपने सत्य से साक्षात्कार कर सकें इसी मंगल-भावना के साथ- नमस्कार !



9

विपश्यना से पाएँ विलक्षण फल

भगवान बुद्ध राजगृही के राजमार्ग से जा रहे थे। राजगृही नगर पर्वतमालाओं के मध्य बसा हुआ था। भगवान बुद्ध के परिवार का एक सदस्य था देवदत्त, जो उनका चचेरा भाई था। वह उनसे अत्यधिक शत्रुता रखता था। उसने श्री भगवान का शिष्यत्व भी ग्रहण किया था, लेकिन उसकी चाहत थी कि जिस तरह गौतम बुद्ध का विस्तृत प्रभाव है उसी तरह उसका प्रभाव भी फैले और उन्हीं की तरह उसके भी हजारों शिष्य हों। इसी महत्वाकांक्षा के कारण उसने भगवान के शिष्यों के मध्य फूट डालने की भी कोशिश की, लेकिन सफल न हो सका। कहते हैं तब वह राजगृही की पर्वतमालाओं पर चढ़ गया और इन्तज़ार करने लगा कि कब बुद्ध उन पर्वतमालाओं के नीचे से गुजरें। जब भगवान उन पर्वतमालाओं के नीचे से गुजर रहे थे कि उसने एक बड़ी शिला उठाई और भगवान के ऊपर फेंकी। कहा जाता है न कि 'जाको राखै सांइयाँ, मार सकै न कोय' - पत्थर, भगवान के दस इंच आगे गिरा। पत्थर बहुत बड़ा था सो भले ही भगवान उससे बच गए हों पर एक टुकड़ा उसमें से टूटा और उछलकर बुद्ध के

पाँव पर गिर पड़ा। भगवान के पाँव से खून बहने लगा। पीड़ा भी हुई होगी। तत्काल शिष्य दौड़े ऊपर देखा तो पाया कि देवदत्त ने यह कारनामा किया है। लेकिन देवदत्त वहाँ से भाग निकला।

शिष्य देवदत्त का पीछा करना चाहते थे, पर बुद्ध ने मना कर दिया। शिष्य बुद्ध को उठाकर चैत्य-विहार में ले आए। ज़ख्म इतना गहरा था कि खून रुक ही नहीं रहा था। शिष्य उस समय के प्रसिद्ध वैद्य जीवक के पास पहुँचे। जीवक संतों और मुनियों की अत्यंत भक्ति भाव से सेवा करता, उनका उपचार करता। जीवक ने घाव की गहराई देखकर तेज दवा बाँध दी, ताकि रुधिर जल्दी रुक जाए। जीवक को दूसरे स्थान पर जाना था अतः उसने कहा- मैं साँझ तक वापस लौट आऊँगा, यह दवा बहुत तेज है। अतः इसका रातभर बँधे रहना ठीक नहीं है। मैं शाम को पट्टी इत्यादि खोल दूँगा। ऐसा कहकर जीवक चला गया। इत्तिफाक की बात साँझ होने आ गई, वैद्य दूसरे गाँव से लौट न पाया। जब वह नगर कोट तक पहुँचा तब तक रात हो गई और नगर के दरवाजे बंद हो गए थे।

जीवक को प्रायश्चित्त होने लगा कि उसने भगवान को इतनी तेज दवा बाँध दी है कि भगवान को रातभर नींद भी न आएगी। इस अवहेलना, आशातना, उपेक्षा, वेदना का आधार वह स्वयं ही होगा। वहीं बैठे-बैठे उसने श्री भगवान से कहा- प्रभु, मुझे क्षमा करें मैंने आपको तेज दवा की पट्टी तो बाँध दी लेकिन खोलने के लिए मैं समय पर नहीं पहुँच पाया। दूसरे दिन सुबह जीवक वैद्य गौतम बुद्ध के पास पहुँचे, क्षमा प्रार्थना कर कहने लगे- मैं समय पर न पहुँच पाया, मुझे क्षमा कर दें। बुद्ध ने मुस्कराते हुए कहा- निश्चय ही तुम न पहुँच पाए, पर तुम्हारा संदेश मुझ तक पहुँच गया था। नगर के द्वार पर बैठकर तुमने जो प्रार्थना की थी वह मुझ तक पहुँच गई और मैंने पट्टी खुलवा ली। जीवक ने कहा- अच्छा किया भगवन्, पर दिन भर तो आपको बहुत वेदना हुई होगी, कष्ट हुआ होगा। तब बुद्ध ने जीवक से दो पंक्तियाँ कहीं- हे वैद्य, बुद्ध के कष्ट तो उसी दिन समाप्त हो गए थे जिस दिन बोधि-वृक्ष के नीचे उसे बोधि-लाभ अर्जित हुआ था।

इन्सान के जीवन में तभी तक कष्ट रहते हैं जब तक उसके जीवन में अज्ञान, अबोध दशा, असत्य का, मिथ्यात्व का प्रभाव होता है। जब व्यक्ति जीवन और जगत के मर्म को समझ ले कि क्या नित्य है और क्या अनित्य है,

वह आत्म ज्ञानी कष्ट और वेदनाओं से ऊपर उठ जाता है। जो शरीर और आत्मा, जीव और निर्जीव को एकरूप मानता रहता है, उसके जीवन और चित्त पर वेदना तथा कष्ट प्रभावी रहते हैं। लेकिन जैसे हंस नीर-क्षीर विवेक रखता है वैसे ही भेद-विज्ञानी, आत्म-ज्ञानी शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानने में समर्थ हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने शरीर को वेदना, कष्ट, खिंचाव, तनाव, दबाव, प्रतिकूलताएँ, दुःखद संवेदनाएँ- इनसे प्रभावित नहीं हो पाता।

मैंने अपने जीवन में कुछ वर्षों पूर्व आत्म-योगिनी साध्वी विचक्षण श्री जी को देखा था। उनकी छाती में कैंसर हो गया था। उनके एक स्तन में से हर समय मवाद रिसता रहता था। हज़ारों लोगों ने देखा वह साध्वी महिला ऐसी स्थिति में भी अपने हाथ में हर समय एक माला थामें रहतीं और प्रभु के ध्यान में लीन रहतीं। तब लोगों ने जाना कि 'तन में व्याधि और मन में समाधि' - इसे कहते हैं। उस साध्वी ने यह तत्त्व, यह मर्म, यह बोध अर्जित कर लिया था कि शरीर अलग है, मैं अलग हूँ। 'मैं' और 'मेरा' दोनों ही शरीर के साथ आरोपित करना प्राणिमात्र का अज्ञान होता है, अबोध दशा है।

हाड़-माँस, पंच महाभूत और चार धातुओं से बनी हुई हमारी यह काया पता नहीं चलता कब तक है और कब नहीं है। बाहर से साफ, सुन्दर, सलोनी दिखाई देने वाली काया में कब टूट-फूट हो जाए, जल-झुलस जाए, अपंगता आ जाए, पता नहीं चलता है। जैसे इस काया में डाले गए हर भोजन का परिणाम अशुचितापूर्ण होता है वैसे ही हमारी काया इसी गुण-धर्म से प्रभावित है। क्योंकि जो भीतर है वही तो बाहर होगा। सड़ना, गलना, बनना, मिटना यही सब इस काया के गुण-धर्म हैं। अज्ञानता की दशा में हम इस काया के भोग के प्रति, इन्द्रियों के सुखों के प्रति लालायित, आतुर और तृषार्त रहते हैं। लेकिन आत्म-ज्ञानी जिसने जीव और जड़ को अलग-अलग जान लिया है वह इस जड़ के द्वारा होने वाले प्रभावों से अप्रभावित रहता है। वह निरपेक्ष रहता है क्योंकि वह शुद्ध रूप से साक्षी हो जाता है। आत्म-दृष्टा होने का अर्थ ही यही है कि वह शुद्ध साक्षी हो गया।

दुनिया में दो तरह के लोग होते हैं- एक जो तलहटी पर हैं, दूसरे वे जो शिखर पर होते हैं। तलहटी पर रहने वाले लोग ज़मीनी तूफ़ानों से, ज़मीनी धूल से परेशान रहते हैं, लेकिन जो शिखर पर पहुँच चुके हैं ऐसे लोग तटस्थ भाव से

जमीन पर जो कुछ होता रहता है, उसे देख लेते हैं, पर उससे प्रभावित नहीं होते। वे न तो उसे ग्रहण करते हैं और न ही यह समझते हैं कि अमुक तत्त्व ग्रहण करने योग्य नहीं है। हमारी पाँचों इन्द्रियों के गुण-धर्म हमें लालायित, प्रेरित और आकर्षित करते रहते हैं। जैसे साँप और कुत्ते की जीभ लपलपाती है वैसे ही हमारी इन्द्रियाँ बाह्य सुख के लिए लपलपाती हैं। हमारे ऊपर जब तक अज्ञान हावी है, शरीर और आत्मा भिन्न है। यह सम्यक्त्व, यह बोध, यह ज्ञान हासिल नहीं हो जाता तब तक हम भी इन्द्रियों के इसी तरह के अनुकूल गुण-धर्मों के प्रति ऐसे ही आकर्षित होते रहेंगे। प्रतिकूलताएँ हमें झेलनी पड़ती है लेकिन अनुकूलताओं के प्रति हमारा चित्त, हमारा अन्तरमन आकर्षित होता रहता है। थोड़ा-सा और मिल जाए, थोड़ा कहीं और चले जाएँ, थोड़े गहने-कपड़े और मिल जाएँ, थोड़ा-सा भोजन और स्वादिष्ट मिल जाए, थोड़े से भोग के साधन और मिल जाएँ। अर्थात् और-और की कामनाएँ अज्ञान का ही परिणाम है।

साक्षी, तटस्थ, आत्मभाव में स्थित रहने वाला व्यक्ति इन चीजों के लिए मचलता नहीं है। मिला तो ठीक, न भी मिला तो आनंद भाव। मुझसे किसी ने पूछा कि संत की परिभाषा क्या है ? तो मैंने कहा- आप ही बता दें कि संत की सच्ची परिभाषा क्या है। वे आहारचर्या के लिए जा रहे थे। उन्होंने कहा- मिल गया तो खा लिया और न मिला तो संतोष कर लिया यही संत की परिभाषा है। मैंने कहा- यह तो ठीक है लेकिन इसमें थोड़ा-सा सकारात्मक दृष्टिकोण हो कि मिल गया तो बाँटकर खाया और न मिला तो यह सद्भाव रखा कि आज प्रभु ने कृपा की कि आज मुझे उपवास करने का पुण्य अर्जित हुआ। कहते हैं एक संत किसी जंगल में अपनी कुटिया बनाकर रहता। बड़ा अनूठा, औलिया संत। सर्दी होती तो कुटिया के भीतर रहता, गर्मी होती तो कुटिया के बाहर पेड़ की छाया में आनंदित रहता। वह भोजन बनाता भी नहीं था और भिक्षाचर्या के लिए गाँव में भी नहीं जाता। दोपहर के 12 बजे भोजन करता। राह चलता जो राहगीर उसकी थाली में डाल देता, वह उसे प्रभु का प्रसाद समझकर ग्रहण कर लेता।

एक दिन राजा उस संत की उस साधुक्कड़ी को देखने के लिए पेड़ की ओट में छिपकर बैठ गया। वह देखने लगा कि बिना माँगे उसकी रोटी की व्यवस्था कैसे होती है। वह ठीक 12 बजते ही भोजन के लिए तैयार हुआ।

उसने थाली निकाली और कहने लगा- प्रभु, सब तेरी मेहरबानी है। तू सबका ख्याल रखता है।

संत ऐसा कुछ बोल रहा था कि अचानक उसी जंगल से एक राहगीर गुजरा। उसने संत को बैठे देखा तो उसने अपनी पोटली में से दो रोटी निकाली और संत की थाली में डाल दी। राहगीर आगे बढ़ गया। संत मुस्कराया और पुनः कहने लगा- प्रभु तेरी बड़ी रहमत है, तू सबका ख्याल रखता है।

संत ने खाना खाने के लिए हाथ धोए, प्रभु की प्रार्थना करने के लिए आँखें बंद कीं। संत मन-ही-मन प्रार्थना कर रहा था कि तभी एक कुत्ता आया। संत की थाली में से रोटी उठाई और भाग निकला। संत ने आँख खोली तो रोटी गायब! संत व्याकुल न हुआ, कुत्ते के पीछे न दौड़ा। संत ने पुनः यह कहते हुए थाली अपनी झोली में डाल ली कि प्रभु ! तेरी रहमते बड़ी हैं। तू कभी-कभी मुझे खुद ही उपवास करने का सौभाग्य दे देता है।

संत का इतना कहना था कि राजा पेड़ की ओट से बाहर निकल आया। उसने संत के चरण-स्पर्श किए। उनकी शांति-समता-समरसता का अभिनंदन किया। राजा ने कहा- प्रभु, मैं अपनी ज़िंदगी में अगर कभी संत बनूँ तो मुझे भी आप जैसी ही यह तटस्थता प्राप्त हो। सचमुच, ऐसा सद्भाव आने से हमारे मन में वेदना नहीं होगी, दबाव नहीं होगा, तनाव और खिंचाव भी नहीं होगा। असहजता नहीं होगी, दुःखद वेदना और संवेदना नहीं होगी कि हे भगवान ! तुझे इतना याद करता हूँ फिर भी भूखा रख दिया। साधक शिकायत भाव से ऊपर उठ जाए। जो है, जैसा है, उसमें आनंदित रहने का नाम ही साधना है। जो नहीं है, उसके प्रति लालायित होने का नाम ही विराधना है। साधक सहज रहे, हर उतार-चढ़ाव में सहज रहे। परिस्थिति को खुद पर हावी न होने दे। परिस्थितियों का स्वयं को गुलाम न होने दे। परिस्थितियाँ तो बदलती रहती हैं। वे एक-सी नहीं रहतीं। कभी लाभ का निमित्त आ जाता है, तो चित्त लोभित हो उठता है। कभी हानि का निमित्त आ जाता है, तो चित्त उद्विग्न हो जाता है। निमित्त बनते रहते हैं, बदलते रहते हैं। हम अगर निमित्त प्रधान ज़िंदगी जीते रहे, तो हो गई साधना।

एक प्रेरक कहानी राजा भर्तृहरि से जुड़ी हुई है कि वे संन्यस्त होकर जंगलों में चले गए और पहाड़ों की गुफाओं में बैठकर ध्यान-साधना करने लगे। एक दिन जहाँ वे बैठे थे ठीक उसके सामने तलहटी पर उन्हें एक अद्भुत

अनमोल हीरा नज़र आया। एक पल के लिए अन्तर्भाव उठे कि वाह क्या अद्भुत हीरा है, ऐसा हीरा तो मैंने अपने राजकोष में भी नहीं देखा था। ध्यान में बैठे थे लेकिन ! व्यक्ति निमित्त देख लेता है तो अपने-आप बहने लगता है, चित्त तरंगित हो जाता है। मन में कामना उठ आई कि जाकर उठा ही लेता हूँ। वे सोच ही रहे थे कि खड़ा होऊँ, जाऊँ, तभी देखा कि पूरब दिशा से एक सुभट घोड़े पर दौड़ता आ रहा है और पश्चिम दिशा से भी एक सुभट घोड़े पर दौड़ा चला आ रहा है। दोनों तरफ से दौड़ लगी हुई है। दोनों एक-दूसरे के सामने आ रहे थे, भर्तृहरि ने सोचा अरे देखूँ, ये लोग क्या कर रहे हैं ? तभी पता चला कि दोनों ओर से कुछ अन्य सुभट भी हीरे वाले स्थल पर पहुँच चुके थे। तलवारें तन गईं, दोनों हीरे पर अपना दावा जताने लगे। तलवारें चल पड़ीं, सभी लहूलुहान हो गए, सबकी लारों गिर पड़ी। हीरा मुस्कुराता वहीं रह गया, आसपास लारों बिछ गईं। भर्तृहरि को जीवन का ज्ञान, अध्यात्म का सार, अध्यात्म की चाबी मिल गई कि जो तटस्थ है वही सुखी है और जो कभी राग और कभी द्वेष की तरफ घड़ी के पेन्डुलम की तरह अपने चित्त में इधर-उधर डोलता है वह सदा दुःखी रहता है। ठीक वैसे ही जैसे इस एक हीरे के लिए इतने सिपाही और सुभट मर गए। हीरा वहीं का वहीं और वही का वही। हम ही लेश्याओं से घिरते हैं। मोह-मूर्च्छा के मकड़जाल रचते हैं।

आज हम श्री भगवान के जिन सूत्रों का चिंतन और मनन करेंगे वह व्यक्ति के मन को तटस्थ भाव, साक्षी-भाव की ओर ले जाता है। प्रत्येक साधक को भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि साधना की कुँजी साक्षी भाव है। साधना की आत्मा, आत्म-ज्ञान की चाबी, अनासक्ति और मुक्ति का द्वार साक्षी-भाव से खुलता है। इस साक्षी-भाव को विकसित करने के लिए ज्ञानीजनों ने अनुपश्यना का मार्ग दिया। अनुपश्यना को साधने के लिए बुद्ध ने, महावीर ने, पतंजलि ने जो रास्ता दिखाया वह है आती-जाती श्वासों पर अपनी सचेतनता को साधना, उसका संप्रज्ञान करना, उसका भलीभाँति तत्त्वदर्शन और बोध करना, उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति करना। जो साधक श्वास-धारा के प्रति जागरूक नहीं होगा वह तीन मिनिट पश्चात् अपने चित्त की वज़ह से विचलित हो जाएगा। इसलिए आनापान-योग को साधना अपनी सच्चाई के दर्शन के लिए, अपने विकारों के विरेचन के लिए जरूरी है। दुनियाभर के साधना-मार्ग हमें परमात्मा से, मंत्र से, धर्म और धर्म की पंक्तियों से जोड़ सकते हैं

लेकिन स्वयं से नहीं। स्वयं से जुड़ने का एकमात्र मार्ग आनापान-योग है। आनापान-योग करते हुए साधक अपनी काया की अनुपश्यना करने में भी सफल होता है।

सामान्यतः आनापान करते हुए साधक के सामने दो रास्ते प्रकट होते हैं— (1) ध्यान (2) अनुपश्यना। इन दोनों में फ़र्क है। ध्यान का अर्थ है— चित्त की एकाग्रता और अनुपश्यना का अर्थ है— स्वयं के भीतर जो भी उदय-विलय हो रहा है उसका साक्षी होना, उसका लगातार दर्शन करना और भलीभाँति जानना। ध्यान में जो हो रहा है उस पर गौर नहीं किया जाता, वरन् उसे जो होना है उस लक्ष्य की ओर स्वयं को तत्पर करता है। ध्यान में अपने चित्त को ऐसे तत्त्व के प्रति केन्द्रित करना है जो हमारा लक्ष्य है। जैसे— प्रभु की मूर्त पर ध्यान करना, श्वासोश्वास के साथ 'ॐ' का ध्यान करना, अपने ही ज्ञान प्रदेश, हृदय प्रदेश या नाभिकेन्द्र पर ध्यान करना अर्थात् अपने चित्त को स्थिर और एकाग्र करने का प्रयत्न करना— यह ध्यान का अभ्यास हुआ और अनुपश्यना में चित्त को प्रयासपूर्वक केन्द्रित नहीं किया जाता बल्कि जो उदय या विलय हो रहा है उसका वह साक्षी होता है। व्यक्ति के सामने स्पष्ट होना चाहिए कि वह ध्यान कर रहा है या अनुपश्यना। वह अपने भीतर उठने वाले विकार, कषाय, वेदन, संवेदनों पर अपनी अनुपश्यना करना चाहता है, उन्हें भलीभाँति जानना चाहता है या ध्यान करना चाहता है। क्योंकि ध्यान में आरोपण भी हो सकता है लेकिन अनुपश्यना में आरोपण नहीं होता जो सहज उदय में है उसका साक्षी होता है। हम वेदना या संवेदना उत्पन्न नहीं कर सकते। अनुपश्यना वर्तमान क्षण में जीने का तरीका है, सत्य से साक्षात्कार करने का तरीका है। फिर वह सत्य चाहे काया का हो, वेदना का हो, चित्त या चित्त के संस्कारों का हो।

पहले दिन, पहले चरण में साधक को न तो ढंग से आनापान होता है, और न ही काया की अनुपश्यना। लेकिन सहज सतत् प्रयत्न करने से सफलता मिल जाती है। जब आप साधना के लिए बैठें तो पहले बीस लम्बे गहरे श्वास, फिर बीस सहज श्वास, फिर बीस मंद-मंद श्वास लें। बीस मिनट तक इस क्रम को दोहराते रहें। पहली बैठक में साँस थोड़ी-थोड़ी पकड़ में आएगी, चित्त ज्यादा भटकेगा। दूसरी बैठक में साँस थोड़ी पकड़ में आने लगेगी। तीसरी बैठक में चित्त इतना भटकेगा कि साँस पर टिकेगा ही नहीं। लेकिन जैसे-जैसे श्वासोश्वास पर जागरूक होते हैं, आनापान करते हैं, अपनी स्मृति को,

सचेतनता को भलीभाँति स्थापित करने लगते हैं तो महसूस करते हैं कि प्रत्येक श्वासोश्वास पर हमारी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगी है। तब श्वासोश्वास के उदय-विलय का बोध होते ही काया की अनुपश्यना होने लगती है। हमें काया में उठने वाले गुणधर्मों का बोध, इसमें उठने वाली वेदनाएँ, संस्कारों के अपने-आप साक्षी होने लगते हैं, जागरूक होने लगते हैं।

जो ध्यान करते हैं वे सचेष्ट होकर कुण्डलिनी-प्रदेश पर ध्यान स्थापित करेंगे या षट्चक्रों पर ध्यान स्थापित करेंगे। आजकल राजयोग, भावातीत-ध्यान या अन्य जो भी पद्धतियाँ चल रही हैं या प्रेक्षा ध्यान इनमें सभी षट्चक्रों पर ध्यान धरने की बात कहते हैं। लेकिन मैं कहना चाहता हूँ कि षट्चक्रों की प्रेक्षा कभी नहीं होती। षट्चक्रों पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है, उसकी प्रेक्षा कभी नहीं हो सकती। प्रेक्षा का अर्थ है अनुपश्यना अर्थात् उस केन्द्र पर जो भी उदय हो रहा है उसके हम साक्षी हो रहे हैं। जबकि ध्यान का अर्थ है हम वहाँ अपने बिखरे हुए चित्त को केन्द्रित कर वहाँ की ऊर्जा के घनत्व के साथ स्वयं को जोड़ रहे हैं। कठोपनिषद की भाषा में कहें तो वहाँ पर आनापान करने के बाद वे हृदय पर या बुद्धि रूपी गुफा पर ध्यान धरने की बात कहते हैं। लेकिन यह तो ध्यान की बात है। लेकिन हम यहाँ अनुपश्यना को समझ रहे हैं, ध्यान नहीं। अनुपश्यना या विपश्यना अर्थात् विशेष रूप से पूर्ण जागरूकता के साथ देखना।

पूर्ण जागरूकता के साथ देखने पर हम देखते हैं कि आनापान सधने के बाद प्रत्यक्ष अनुभूति होगी कि हमें अपनी काया का भी अनुभव होने लगा है। इसकी बारीकियों से खुद-ब-खुद जुड़ने लगे हैं। इसके अन्दर होने वाले सहज उदय-विलय को पकड़ने में भी सफल होने लगे हैं। सामान्य रूप से तो जब शरीर में कोई चीज़ अत्यंत प्रगाढ़ होगी तब ही हमें अनुभव में आएगी लेकिन अनुपश्यना करते हुए बारीक से बारीक चीज़ भी पकड़ में आने लगेगी। जैसे सागर में लहरें उठती हैं या पानी के बुदबुदे उठते हैं ऐसे ही हमारी काया में भी अलग-अलग प्रकृति के उदय और विलय चलते रहते हैं। लेकिन यह सब पहले दिन ही पकड़ में नहीं आया पर अगर आनापान सध जाए तो हमें बोध होने लगता है कि हर साँस अनित्य है और दूसरा बोध यह कि हर साँस अखंड है, तीसरा बोध यह कि हर साँस में ताज़गी है, हर साँस नई है। हम कोई भी साँस पुरानी नहीं लेते, न ही पुराना जीवन जीते हैं। कल रात जो जीवन जिया था क्या अब भी वही जीवन जी रहे हैं ? हर श्वास हर पल नई है, ताज़गीभरी है।

आनापान में हम करते कुछ नहीं हैं बल्कि जो चल रहा है, जो हो रहा है उसके प्रति भलीभाँति जागरूक होते हैं।

अनुपश्यना क्रिया नहीं है और न ही ध्यान क्रिया है। ये दोनों हमें अक्रिया में प्रवेश दिलाते हैं। ध्यान हमें एकाग्रता तो देता है, आत्म-चेतना के साथ भी जोड़ता है, आत्म-ज्ञान के द्वार भी खोलता है, भीतर के प्रकाश का दर्शन भी करवाता है, लेकिन शरीर और चित्त के विकारों से हमें मुक्त नहीं करवाता। काया के संस्कार, उपद्रव, प्रपंचों से ध्यान मुक्त नहीं करवाता। ध्यान इनसे उपरत करवा सकता है, पर मुक्त नहीं। ध्यान में हम 'ॐ' पर, प्रभु प्रतिमा पर, आत्मा पर, मंत्र पर, परमात्म-चेतना पर, किसी भी साकार स्वरूप पर चित्त को केन्द्रित करते हैं, लेकिन हमारे भीतर दबे हुए संस्कारों का क्या होगा, भोग की वासनाओं का क्या होगा। जन्म-जन्मान्तरों से चित्त में पड़े कषायों का क्या होगा ? इसके लिए ही अनुपश्यना का रास्ता है। महावीर और बुद्ध दोनों ने इस मार्ग पर बहुत जोर दिया है क्योंकि व्यक्ति जो है उसकी सच्चाई से साक्षात्कार करे।

ध्यान हमारे लिए समाधि का, परमात्म तत्त्व की ओर बढ़ने का मार्ग है लेकिन अनुपश्यना का मार्ग हमारे चित्त के विकारों, संस्कारों, भीतर के दुःख-दौर्मनस्य से मुक्त होने का रास्ता खोलता है।

मैंने प्रारम्भ में ही कहा था कि बुद्ध ने जीवक से कहा था कि हे वैद्य ! बुद्ध के कष्ट तो उसी दिन समाप्त हो गए थे जिस दिन बोधि-वृक्ष के नीचे उसे बोधि-लाभ अर्जित हुआ था। जब व्यक्ति काया से ही मुक्त हो गया, काया के प्रभावों से ही मुक्त हो गया, उनको अनित्य, अनित्य, अनित्य मानते हुए, उसकी परिवर्तनशीलता को समझते हुए मूल तत्त्व और मूल मर्म तक ही पहुँच गया तब उसे काया के प्रभाव कैसे प्रभावित करेंगे। स्वयं महावीर प्रभु को भी अतिसार का रोग हो गया था, कुछ लोग घबरा भी गए थे, पर महावीर विचलित नहीं हुए। वे काया के मर्म को समझ गए थे। इसीलिए वे देहातीत महापुरुष बने।

अनुपश्यना और अनुप्रेक्षा का शब्दार्थ एक हो सकता है लेकिन महावीर की परम्परा के लोगों ने अनुप्रेक्षा को भावना के अर्थ में डाल दिया है। भावना के अर्थ में डालकर वे कहते हैं कि अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व जैसी भावनाएँ भाई जाएँ। स्मरण रहे अनुपश्यना और अनुप्रेक्षा दो तल पर होती हैं-

एक है चिंतन और मनन के तल पर और दूसरा होता है उसकी ठोस अनुभूति के तल पर। चिंतन-मनन में हम कहते हैं- इस शरीर में, काया में क्या है ? - केश, रोम, नख, हड्डी, वीर्य, मज्जा, खून, कफ, पित्त यही सब गंदगियाँ भरी पड़ी हैं। इस तरह की बतीस प्रकार की गंदगियाँ हमारी काया में भरी पड़ी हैं- यह चिंतन-मनन है, इसका विचार करना है। लेकिन ठोस अनुभूति अनुपश्यना और अनुप्रेक्षा से होती है। चिंतन-मनन से 20% लाभ होता है लेकिन असली लाभ तो अपनी ठोस अनुभूति पर ही होगा। जैसे कि कहा जाए- कफ़ ! कोई प्रभाव होता है ? नहीं। तभी एक छींक आ जाए और नाक से सेडा निकल आया। सामने बैठा हुआ व्यक्ति क्या देखेगा ? (यह भी अनुपश्यना हो रही है) वह विचिकित्सा करेगा, घृणा करेगा- अर-र-र-गंदगी। अब बोध आया तो यह अनुपश्यना हुई, सामने देखा गया तो सत्य का बोध हुआ। वह अपने भीतर ठोस अनुभूति करता है कि यही सब तो मेरी काया के भीतर भी है।

अनुपश्यना और अनुप्रेक्षा को हम चिंतन और ठोस अनुभूति दोनों धरातलों पर देखते हैं। बाहर की गतिविधियों में हम इनका संप्रज्ञान करते हैं लेकिन साधना में इनकी ठोस अनुभूति करने का प्रयत्न और अभ्यास करते हैं। कोई तीन दिन में कायानुपश्यना उपलब्ध नहीं होती और न ही सिर से पाँव तक क्रमिक रूप से इसे किया जाए, ऐसा ज़रूरी नहीं है। तत्त्व को, मार्ग को समझकर कहीं से भी शुरू किया जा सकता है। जब मार्ग समझ में आ जाए कि- श्मशान पर्व है, कि ईर्या पथ पर्व है या प्रतिकूल मनसीकार पर्व है- महासति पट्टान सूत्र में ये जो अलग-अलग पर्व आए, अध्याय आए- हम लोग इनमें कहीं से भी शुरू कर सकते हैं। सीधे चित्त की अनुपश्यना भी कर सकते हैं। ज़रूरी नहीं है कि कायानुपश्यना भी हो। लेकिन कायानुपश्यना इसलिए करवाते हैं कि काया स्थूल है, चित्त पर लगातार केन्द्रित नहीं रह सकते, उसके उदय-विलय पर पूरी तरह सचेतन नहीं रह सकते। काया हमारी पकड़ में, अनुभूति में, समझ में आ रही है। हम इस पर जागरूक हो सकते हैं। जब कायानुपश्यना सध जाएगी तब चलना तो आगे ही है। मात्र कायानुपश्यना से मुक्ति नहीं मिलने वाली और न ही इससे कोई बुद्धत्व का कमल खिलेगा। करनी तो चित्तानुपश्यना ही है, लेकिन पहले चरण में यह हो नहीं सकती। इसीलिए कहते हैं सबसे पहले आनापान को साधो, फिर कायानुपश्यना को साधो, फिर वेदानुपश्यना को साधो, उसके बाद चित्तानुपश्यना को साधो। अगर कायानुपश्यना पर पकड़ बन गई है तो हम सीधे

ही चित्त की धाराओं के प्रति स्मृतिमान और संप्रज्ञान कर सकते हैं, तब कायानुपश्यना की आवश्यकता नहीं है !

जैसा कि कहा जाता है सबसे ज्यादा विचार ही आते हैं, इसीलिए आते हैं कि हम स्थूल पर ही सजग नहीं हो पाए, सीधे सूक्ष्म से ही लड़ने लग गए। अरे, सामने जो सेना खड़ी है, उससे तो लड़ ही नहीं पा रहे हैं और जो अंदर में छिपी हुई सेना है उससे भिड़ने की सोच रहे हैं। चित्त शरीर की बहुत बारीक चीज़ है। हम तो स्थूल काया के वेदन-संवेदनों के प्रति ही सजग नहीं हो रहे हैं, उसी को नहीं पकड़ पा रहे हैं, उसके उदय-विलय को ही नहीं समझ पा रहे हैं तो चित्त के उदय और विलय को साक्षी भाव से कैसे समझ पाएँगे ! साक्षीत्व रहेगा ही नहीं, हम विचारों में बह जाएँगे और साक्षीत्व भी ठंडा हो जाएगा। साधना में तो बैठे, पर भव-भ्रमण किया, चित्त को घुमाते रहे। तुम्हें लगता होगा तुमने ध्यान किया लेकिन जो तुम्हारे चित्त की दशाओं को समझता होगा वह जानता है कुछ नहीं कर रहा, केवल भटक रहा है।

बाहर से लगता है यह काया मंदिर है, निश्चित ही मंदिर होगी, पर इसमें भगवान की मूरत नहीं दिखाई देगी। मंदिर तो बहुत सुंदर है, पर भगवान नहीं है। संसार में बहुत से सुंदर मंदिर हैं, उनमें मूरत हो सकती है, पर भगवान नहीं हैं। कायानुपश्यना सचेत करती है कि पहले स्थूल पर जाग्रत होने की कोशिश करो तब चित्त के उदय-विलय पर सचेतनता लाओ, क्योंकि साक्षीत्व साधना पड़ेगा, जागरूकता साधनी पड़ेगी, गहरी शांति को साकार करना होगा। अभी तक तो काया की वेदना, संवेदना ही पकड़ में नहीं आ रही है। जब तक काया के उपद्रव पकड़ में नहीं आएँगे हम चित्त के उपद्रवों को कैसे पकड़ेंगे। काया के उपद्रव; भूख लगी, कुछ महसूस तो हुआ। कि नींद आ रही है कुछ महसूस तो होगा, पर चित्त में जो प्रवाह चल रहे हैं वे कैसे पकड़ में आएँगे, उन्हें कैसे महसूस करेंगे।

अनुपश्यना की साधना जो भी बाहर-भीतर उठ रहा है, उसका विरोध नहीं कर रही है। केवल साक्षी हो जाती है। विचार हम ला नहीं रहे हैं, शरीर के सुखद-दुःखद संवेदन हम ला नहीं रहे हैं- अपने-आप हो रहा है। बस जो हो रहा है उसके प्रति सचेतन हो रहे हैं। ज़रूरी नहीं है कि विचार लगातार उठते रहें। हो सकता है- बीच में कमर दर्द उठ जाए तब हमारा ध्यान कमर की ओर चला जाए। ध्यान बँटता रहता है। निद्रा, तंद्रा, मूर्च्छा आ गई इसी के लिए

ज़रूरी है कि साधक आरामदायक अवस्था में न बैठे। साधक को पहला शब्द याद रहे- आतापी। अगर हम आतापी, सचेतन और संप्रज्ञानी नहीं होंगे तो इन तीनों में से एक की भी उपेक्षा अनुपश्यना नहीं करने देगी। अनुपश्यना हुई भी तो कमज़ोर होगी और कमज़ोर अनुपश्यना से विलक्षण फलों की आशा नहीं की जा सकती। विलक्षण फलों की प्राप्ति के लिए साधक को आतापी, तपस्वी होना चाहिए। आतापी ही न हुए तो संप्रज्ञानी और सचेतन कैसे होओगे। पहले ही चरण में प्रमाद ने, मूर्च्छा और मोह ने घेर लिया है तो सचेतनता तो गई बहुत दूर। अगर साधक को बैठने से तंद्रा, निद्रा आती है तो खड़े होकर ध्यान करो, अपनी अनुपश्यना करो। साधक को साधना करते समय पल-पल स्मरण रखना चाहिए कि वह क्या कर रहा है। हमारा चित्त हमें तभी भटकाएगा जब हम अपनी स्मृति को, सचेतनता को भूल गए हों। जब हम अपने संकल्प को, हम क्या करने के लिए उद्यत हैं यह भूल जाएँगे तब ही चित्त भटकेगा।

हमें पल-पल स्मरण हो कि मैं आतापी हूँ, स्वयं को तपा रहा हूँ, मैं शुद्धि करने के लिए बैठा हूँ, स्वयं को जानने के लिए, अपने भीतर उदय होने वाली हर सच्चाई के साक्षात्कार के लिए बैठा हूँ। जब हमारे भीतर इस प्रकार का प्रगाढ़ बोध होगा तभी हम संप्रज्ञान कर सकेंगे, अपने भीतर पूरी तरह सचेतन हो सकेंगे। क्या हम दुनिया को दिखाने के लिए साधना कर रहे हैं। क्या हमने साधना को किसी तरह की आदत बना लिया है कि सुबह उठकर बैठना ही है। आधा-एक घंटा ? क्यों बैठ रहे हैं ? अगर बैठ रहे हैं तो हमारे पास क्या तैयारी होनी चाहिए ? अगर मैं तप नहीं रहा हूँ तो एक घंटा बैठकर क्या करूँगा ? साधक जब साधना कर रहा है तब स्वयं को आतापी बना चुका है। साधक बोध रखता है कि शरीर और चित्त को स्थिर करके इसमें सहज उदित सच्चाइयों का साक्षात्कार करूँगा। अनुपश्यना का मार्ग कोई विरोध नहीं करता। न विकारों का, न सद्विचारों का ! यह पलायन का मार्ग नहीं देता। आँसू भी नहीं दुलकाता कि अरे मेरे भीतर यह सब क्या-क्या हो रहा है। जो है वह स्वयं का है। सम्यक् प्रकार से, प्रज्ञापूर्वक, ज्ञानपूर्वक, प्रकृष्ट ज्ञानपूर्वक श्रेष्ठ बुद्धि का इस्तेमाल करते हुए खुद के प्रति जागरूक हो रहा है। उसने अपनी स्मृति को स्वयं के साथ लगा रखा है।

चित्त में कोई भाव आ जाए तो शांत, विचार शांत, अभी मैं आतापी हूँ, अभी मैं साधना में बैठा हूँ। अचानक बैठे-बैठे घर की याद भी आ सकती है,

परिवार-पत्नी-बच्चे याद आ सकते हैं तब सावधान हो जाइए। तीन तत्त्वों में से एक भी कमजोर पड़ा तो अनुपश्यना भी कमजोर हो जाएगी। तब विलक्षण फलों को न पाया जा सकेगा। स्वयं की बारीकियों को उपलब्ध नहीं किया जा सकेगा। इसीलिए कहते हैं कि सिर से लेकर पाँव के अँगूठे तक एक-एक अंग पर जागरूक बनो। एक-एक अंग पर सजग होने की कोशिश करो। हमेशा एक-एक अंग पर जागना ज़रूरी नहीं है। कभी किसी विशिष्ट अंग का भी संप्रज्ञान कर सकते हैं और कभी सिर से एड़ी तक का सम्पूर्ण संप्रज्ञान भी कर सकते हैं। भलीभाँति उसका अनुभव कर सकते हैं। कभी सिर से गर्दन तक, कभी गर्दन से हृदय की ओर, हाथ की ओर, पेट की ओर, नाभि की ओर, पेड़ू की ओर, पाँवों की ओर- एक-एक अंग पर भी संप्रज्ञान कर सकते हैं। साधना में एक बार, दो बार, तीन बार, जितनी बार, जितनी देर हम संप्रज्ञान करना चाहें कर सकते हैं क्योंकि उदय और विलय तो पल-पल होता है। जितनी बार बैठोगे, जितनी बार करोगे कुछ-न-कुछ पकड़ में आएगा। कुछ-न-कुछ समझ में आएगा कि जो काया हमें प्रभावित करती है, जिसे हमने थामा है, जिसमें हम रहते हैं, वह काया आखिर क्या है ? इसमें बार-बार उपद्रव क्यों उठते हैं ?

गुप्तांगों की अनुपश्यना चलाकर नहीं करनी चाहिए, लेकिन वहाँ कोई उपद्रव उठ गया है तो विशेष रूप से सचेतन होकर, विशेष रूप से संप्रज्ञान के भाव लाते हुए, विशेष रूप से आतापी होने के भाव लाकर हमें वहाँ की अनुपश्यना करनी चाहिए यह मानकर कि यह भी काया का उपद्रव है। याद रहे अगर हम भली-भाँति संप्रज्ञान नहीं करेंगे तो भोग के भाव बढ़ सकते हैं। इसीलिए आनापान साधना ज़रूरी है। अगर आनापान सधता है तो कायानुपश्यना सधती है। कायानुपश्यना का कोई तय मार्ग नहीं है। यह तो व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर है कि उसके काया के उपद्रव किस स्तर के हैं। कुछ लोगों की काया अत्यंत शांत, सौम्य होती है और कुछ अत्यंत भोग के भाव से भरे रहते हैं। जो शांत हैं, सौम्य हैं उन्हें श्मशान जाने की ज़रूरत ही नहीं है। यह तो अलग-अलग प्रकार की काया है कि किसमें दुर्गुण ज्यादा हैं और किसमें सदगुण।

आज अब हम वेदानुपश्यना पर चर्चा करते हैं अर्थात् शरीर में होने वाली वेदनाओं का संप्रज्ञान करना, उनको भलीभाँति सचेतन होकर जानना,

उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति करना, उनके प्रति साक्षीकरण करना। महावीर ने कभी कहा था कि मनुष्य और पशु शरीर के भीतर चार प्रकार की क्रियाएँ चलती रहती हैं- आहार, निद्रा, भय और मैथुन। इन सब की तरंगें चलती रहती हैं- प्राणीमात्र के भीतर। कोई इससे अछूता नहीं है। भूख- आहार संज्ञा, निद्रा-रोजाना नींद आती है, थोड़ा-सा डर लगे कि हमारी चेतना हिल जाती है, मैथुन की प्रकृति- किसी किशोर को सेक्स और भोग के बारे में बताना नहीं पड़ता। काया में ये सब उपद्रव उठने शुरू हो जाते हैं। अगर किसी को लगता है कि आहार, निद्रा, भय या मैथुन में से कोई प्रकृति अधिक है तो अपने आप में घृणा, नफरत, प्रायश्चित के भाव न लाए बल्कि उसे अपने शरीर की सहज व्यवस्था समझे। प्राणीमात्र का यह गुणधर्म है। जो पत्ता पेड़ पर लगता है एक दिन झड़ता भी है यह उसकी प्रकृति है, कोई खास बात नहीं है। न ही इससे निराश होने की ज़रूरत है यह तो प्रकृति है। लेकिन बुद्ध ने कुछ और शरीर की प्रकृतियों को समझाया है। इसे भी हम अपने साथ जोड़ लेते हैं और वे कहते हैं कि हमारे भीतर तीन तरह की वेदनाएँ होती हैं, वेदना अर्थात् अनुभूति। यहाँ वेदना का अर्थ पीड़ा नहीं है। भारतीय संस्कृति के सबसे प्राचीन शास्त्र वेद हैं- यहाँ भी वेद का अर्थ पीड़ा नहीं है- वेद का अर्थ है प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रत्यक्ष अनुभूति। अनुभव करके जो बात कही गई है वह है वेद। यहाँ भी वेदना का अर्थ प्रतिकूल वेदना से नहीं है। बुद्ध कहते हैं- सुखद वेदना, दुःखद वेदना और असुखद, अदुःखद वेदना।

सुखद वेदना अर्थात् सुख देने वाला अहसास, दुःखद वेदना अर्थात् पीड़ा, तनाव खिंचाव का अनुभव कराने वाला अहसास और तीसरी स्थिति है असुखद-अदुःखद- जिसमें भीतर न सुख की स्थिति है और न दुःख की स्थिति है। यह विशिष्ट स्थिति अनासक्ति की है, भेदविज्ञान की है जिसमें व्यक्ति काया के गुणधर्मों से ऊपर उठ गया। इस असुखद-अदुःखद स्थिति से ही व्यक्ति के भीतर बुद्धत्व का प्रकाश फैलता है, उस ओर और आगे बढ़ता है।

हमारे कायारूपी लोक में कभी सुख का अहसास होने लगता है और कभी दुःख का अहसास होने लगता है। हमारे शरीर में कभी तनाव, कभी खिंचाव, कभी दर्द ये सब दुःखद वेदनाएँ हैं। कभी काया में मस्ती, ताज़गी, आनन्द की अनुभूति होती है- ये सुखद वेदनाएँ हैं। कायानुपश्यना भी वेदना के आधार पर ही होती है। वेदानुपश्यना करते हुए ही कायानुपश्यना करेंगे और

कायानुपश्यना करते हुए ही वेदनानुपश्यना भी होगी। दोनों साथ-साथ चलते हैं। लेकिन जब गहराई में कायानुपश्यना होने लगती है उस समय साधक पूरी तरह सचेतन हो चुका है, स्मृतिमान और आतापी है ऐसी स्थिति में वह अपने शरीर में उठने वाली बारीक-बारीक सूक्ष्म संवेदनाओं का भी संप्रज्ञान करने लगता है और उस समय होने वाली सुखद और दुःखद वेदना की अलग-अलग पहचान कर लेता है। अथवा धीरे-धीरे वह देखता है सुखद वेदनाएँ भी शांत हो गईं, दुःखद वेदनाएँ भी अब शांत हो गईं, दोनों का उदय और विलय भी अब शांत हो गया है, उठता हुआ, भड़कता हुआ सरोवर शांत हो गया है, धधकती हुई ज्वालाएँ भी अब पूरी तरह शांत हो चुकी हैं तब वह पाता है कि काया में अब न सुखद वेदना है, न दुःखद वेदना है। लेकिन फिर भी अहसास तो कायम है तब कहा जाता है असुखद-अदुःखद वेदना।

प्रश्न है कि साक्षी भाव आत्मा का गुणधर्म है या बुद्धि का गुणधर्म ?

अभी मैं यही कहना चाहूँगा कि अभी हम अपनी ओर से आरोपित भावों को बिल्कुल गौण कर दें। जो ठोस अनुभूति में ला सकते हैं उसकी ओर ध्यान दें। साक्षी अर्थात् देखने वाला, दृष्टा, अनुभव करने वाला। क्योंकि अभी जो भी उत्तर होगा वह आरोपित होगा। अनुपश्यना किसी भी प्रकार के आरोपण को स्वीकार नहीं करती। जो है जैसा है खुद ही जानें, कौन है अनुभव करने वाला खुद ही पहचानें। बुद्धि साक्षी बन रही है या आत्मा अथवा चेतना साक्षी बन रही है। अभी तो आत्मा नामक चीज़ आई ही नहीं है, अभी तो हम काया की अनुपश्यना कर रहे हैं, वेदनाओं की अनुपश्यना कर रहे हैं। संभव है वह मानसिक तल पर हो या बौद्धिक तल पर हो या चैतन्य तल पर हो। जितनी बारीकी से हमारी पकड़ में आएगी हम उतना ही समझ पाएँगे।

आप पूछ रहे हैं कि आतापी का अर्थ है जो भी पीड़ा-दर्द उठ रहे हैं उसे सहन करते हुए आगे बढ़ना !

ऐसा नहीं है। साधना कभी नहीं कहती तुम दुःखों को सहन करो, दर्द को सहन करो। साधना बताती है तुम आतापी बन जाओ। जैसे ही तुम कायानुपश्यना करने लगोगे तुम्हारे शरीर के दर्द अपने-आप ही मिटने लग जाएँगे। अगर आपकी कमर में दर्द हो रहा है तो वहाँ अनुपश्यना कीजिए और तटस्थ भाव से जानिए कि इस समय यहाँ काया में वेदना का उदय है। मैंने स्वयं ने कई-कई बार वेदनानुपश्यना करते हुए भलीभाँति यह जाना है, यह पाया है

कि वह वेदना जो हमें प्रभावित कर रही थी विलीन हो चुकी है। हो सकता है अंदर में पड़ी हुई हो, फिर भी बनी रहे तब भी उस समय उसके प्रभाव विलीन हो चुके होते हैं और उसमें से आनन्द दशा, सुखद दशा का उदय होने लगता है। उस समय हम देखते हैं अब सुखद वेदनाओं का अहसास हो रहा है। धीरे-धीरे देखते हैं अब न सुखद है न दुःखद है, केवल मौन साक्षी है, मौन तटस्थ है, मौन ज्ञाता दृष्टा है। तब केवल दर्शन और केवल ज्ञान रह जाता है। यहाँ पर केवल दर्शन और केवल ज्ञान वाला वह सिद्धांत बीच में न लाएँ जिसका मतलब है सर्वज्ञ हो जाना। भूत, वर्तमान, भविष्य को जानने वाला, सृष्टि के प्रत्येक रहस्य को जानने वाला हो गया, ऐसा नहीं है।

केवल दर्शन अर्थात् अब स्वयं का केवल दर्शन मात्र रह गया है, केवल ज्ञान अर्थात् अब केवल ज्ञान हो रहा है, प्रतीति हो रही है न सुखद की न दुःखद की। जो है असुखद-अदुःखद उसका ज्ञान हो रहा है। महावीर की परम्परा में तो केवल दर्शन और केवल ज्ञान को बहुत उच्च श्रेणी में ले जाया गया है। लेकिन जब हम इसे अपने सहज साधना मार्ग में जोड़ते हैं तो केवल अर्थात् मात्र। मात्र दर्शन और मात्र ज्ञान ही अब हमारे भीतर शेष है। इसी साक्षीत्व की दशा से ही अदृश्य सत्य, अस्तित्व के अज्ञात रहस्यों को जानने का रास्ता खुलता है। आगे के रास्ते कैसे खुलेंगे वह तो वहाँ तक पहुँचने वाले साधक को पता चलेगा। अपूर्वकरण की जो स्थिति हमारे भीतर घटित होगी, आठवें गुण स्थान तक जब साधक पहुँचेगा तभी यह बात सधेगी।

महावीर ने भी अप्रमत्त गुण स्थान पर जोर दिया है। आगे की घटनाएँ ही तब घटेंगी जब तुम अप्रमत्त बनोगे, अपने प्रमादों का, अपनी मूर्च्छाओं का त्याग करोगे। उस अप्रमत्त दशा को आतापी होकर, संप्रज्ञानी होकर, सचेतन स्मृतिमान होकर साधा जाए। उसी से यह गुण स्थान सधेगा। शुरू में तो अभ्यास करना ही होगा, लेकिन ज्यों ही अभ्यास गहरा होगा- चीज़ पकड़ में आ जाएगी। अनुपश्यना पहले चरण में अभ्यास है, दूसरे चरण में संप्रज्ञान है। वेदानुपश्यना में वेदना शुद्ध भी होती है और अशुद्ध भी। अशुद्ध वेदनाओं का संवेदन होने पर साधक उन्हें भलीभाँति जानता है कि इस समय काया में अशुद्ध वेदनाओं का उदय हो रहा है या इस समय शुद्ध वेदनाओं का उदय हो रहा है। शरीर में हर समय न तो दुःखद और अशुद्ध वेदनाओं का उदय होता है और न ही सुखद और शुद्ध वेदनाओं का उदय होता है। जैसा कि अभी पूछा गया था

गुप्तांगों की अनुपश्यना करनी चाहिए या नहीं ? तो आप जानते हैं गुप्तांगों में हर समय तो विकार नहीं रहा करता। यह तो कभी जब उसमें विकारों की प्रगाढ़ता होती है, तब पता चलता है। हर समय अशुद्ध वेदनाएँ ही नहीं होतीं शरीर में शुद्ध वेदनाएँ भी होती हैं। मैंने पहले ही कह दिया है कि गुप्तांगों की अनुपश्यना करना ठीक नहीं है, फिर भी अगर हो जाती है, अगर वहाँ ध्यान चला ही जाता है, वह आकर्षित कर ही लेता है तब उसे केवल एक अंग मानकर अनुपश्यना करें। देह के अन्य अंगों की तरह वह भी एक अंग ही है। उसकी लहर में बह न जाएँ।

कभी ऐसा भी होता है जब हम अशुद्ध और शुद्ध दोनों से मुक्त हो जाते हैं, बस शुद्ध दर्शन हो रहा है, शुद्ध ज्ञान हो रहा है। वेदानुपश्यी न कुछ ग्रहण करता है और न ही किसी को न ग्रहण करने योग्य समझता है। वह अपना सहज जीवन जीता है। संसार में विहार करता है, वेदनाओं के उदय-विलय को जानता है। जो कायानुपश्यना और वेदानुपश्यना में पारंगत हो जाता है तब वह चित्तानुपश्यना की ओर बढ़ता है। चित्त के सूक्ष्म से सूक्ष्म संस्कारों का साक्षी होना शुरू होगा। पहले हम काया के स्थूल गुणधर्मों से ऊपर उठें तब चित्त के सूक्ष्म गुणधर्मों से उपरत होने में सफल हो पाएँगे। आगे हम देखेंगे कि श्री प्रभु हमारे सामने चित्तानुपश्यना के कौनसे गूढ़ द्वार खोलना चाहेंगे। हम अपनी अनुपश्यना को धीरे-धीरे और ज़्यादा गहरी करते चले जाएँगे। आज अपनी ओर से इतना ही निवेदन है।

नमस्कार !



10

कैसे करें चित्त की अनुपश्यना

विगत कुछ दिनों से हम विपश्यना के, अनुपश्यना के पवित्र मार्ग का अवगाहन कर रहे हैं। अनुपश्यना के मर्म को समझते हुए इसे अपने जीवन के साथ साधते हुए इसके ठोस परिणामों को उपलब्ध करने का अभ्यास भी कर रहे हैं, प्रयास और पुरुषार्थ भी जारी है। इसी के अन्तर्गत आनापान-योग को समझने का प्रयत्न किया अर्थात् आती-जाती सहज व नैसर्गिक श्वासों पर स्वयं को सचेतन करने का, सम्यक् प्रकार से उसका बोध करने का, उदय और विलय के मर्म को समझने का प्रयास किया। इसके बाद अनुपश्यना की गहराई को समझते हुए कायानुपश्यना के द्वार पर पहुँचे अर्थात् काया में होने वाले विविध प्रकार के उपद्रव, प्रपंच और इसकी विभिन्न स्थितियों से वाकिफ़ होने का प्रयत्न किया। यह भी भलीभाँति जानने की कोशिश की कि यह काया है। 'मैं' न काया हूँ, न 'मेरी' काया है। काया के साथ हम लोगों ने केवल तटस्थ, साक्षी भाव और दृष्टा-भाव को प्राथमिकता देने का प्रयत्न किया। हमने काया के साथ 'मैं' और 'मेरे' का भाव हटाते हुए तटस्थ भाव से उसे

समझने का, उसे भलीभाँति जानने का, भलीभाँति संप्रज्ञान करने का अभ्यास किया ।

साधक को किसी भी परिणाम तक पहुँचने के लिए, किसी भी विलक्षण फल को प्राप्त करने के लिए केवल दस दिन की अनुपश्यना कर लेने भर से सारे परिणाम उपलब्ध नहीं हो जाते हैं । क्योंकि हम सभी के भीतर जन्म-जन्मान्तर के ऐसे संस्कार हैं जो दस दिन की अनुपश्यना में समाप्त नहीं हो जाते । कुछ साधक अपनी साधना के द्वारा मात्र नौ माह में अपने परिणाम उपलब्ध कर लेते हैं, कुछ साधकों को सवा वर्ष लग जाता है, कुछ साधकों को पाँच, सात वर्ष लग जाते हैं । पर एक बात तय है कोई भी साधक लगातार सात वर्षों तक अनुपश्यना के रास्ते पर चल रहा है तो निश्चित ही वह अपने मन और काया के विकारों से, चित्त के दुःख-दौर्मनस्य से, वैर-विरोध से मुक्त हो जाएगा । वह सत्य से साक्षात्कार करेगा, और मुक्ति तथा निर्वाण तत्त्व के अत्यंत निकट पहुँच जाएगा ।

हमने काया की अनुपश्यना करते हुए मन और काया के विकारों को शांत और समाप्त करने के लिए, उनसे उपरत होने के लिए, उनकी निर्जरा करने के लिए काया की अलग-अलग गंदगियों को भी समझने का प्रयत्न किया । कुछ साधक ऐसे हैं जो काया की गंदगियों को समझने मात्र से काया के मोह और विकारों से मुक्त नहीं हो पाए उनके लिए श्मशान तक की साधना भी सहयोगी बन जाती है, हमने यह जाना । हम सामने जलती हुई लाशों को देखकर काया के मर्म को समझ लें । हम सभी गजसुकुमाल के इस प्रसंग से वाकिफ़ हैं कि गजसुकुमाल संन्यास लेते हैं । श्मशान में चले जाते हैं और वहाँ जलती हुई लाशों को देखकर उन्हें अपनी काया की नश्वरता और अनित्यता का बोध होने लगता है । वे यह संकल्प करते हैं कि मैं आज रातभर श्मशान में खड़े रहकर साधना करूँगा और इस बीच चाहे जैसे कष्ट आ जाए, चाहे जैसे उपद्रव हो जाए, चाहे जिन प्रपंचों से गुजरना पड़े, लेकिन अपनी साधना को खंडित नहीं होने दूँगा ।

गजसुकुमाल ने भिक्षु-प्रतिमा धारण करते हुए, ऐसी प्रतिमा जिसमें साधक विचलित नहीं होगा चाहे उसकी चमड़ी ही क्यों न उधेड़ दी जाए । जैसे बाबा फरीद ने कभी गाया था-

कागा, यह तन खाइयो चुन-चुन खाइयो मांस ।

दो नैना मत खाइयो, पिया मिलन की आस ।

क्या पता अंतिम घड़ी में ही प्रभु से मिलन हो जाए। तो हे कौए, तुम सब खा लेना पर इन दो आँखों को छोड़ देना। प्रभु मिल जाएँगे तो मेरा यह बलिदान भी सार्थक हो जाएगा।

ऐसी स्थिति उसी व्यक्ति के जीवन में घटित हो सकती है जिसने अपनी काया की प्रकृति को समझा, उसके गुण-धर्मों को जाना, काया की नश्वरता को जाना और अन्ततः वे काया से मुक्त हुए। देह में रहते हुए भी जो देहातीत रहते हैं वे ही सच्चे साधक और आत्मज्ञानी कहलाते हैं। फरीद जैसे लोग देह में रहते हुए भी विदेह-स्थिति को स्पर्श कर गए तभी वे कौओं के द्वारा अपनी देह को चिथड़े-चिथड़े करवाने को तैयार हो गए। इसी तरह गजसुकुमाल भी संकल्प लेकर श्मशान में खड़े हो गए कि किसी भी स्थिति-परिस्थिति में विचलित नहीं होंगे। जब गजसुकुमाल ने भगवान से इस प्रकार की अनुमति माँगी तो भगवान ने कहा था- गजसुकुमाल ! आज की रात तेरे जीवन की कसौटी की रात है। अगर आज रात तुम सफल हो गए तो कल का प्रभात तुम्हारे जीवन के समस्त अंधकारों को दूर कर देगा।

मुनि गजसुकुमाल ने कहा- प्रभु मैं आपका शिष्य हूँ और अब चाहे जैसी परिस्थिति बन जाए मैं विचलित नहीं होऊँगा।

दुनिया में दुश्मनों की कमी नहीं है। गजसुकुमाल के सिर पर मिट्टी की पाल बाँध दी जाती है। श्मशान में और क्या मिलेगा, सो वहाँ से जलते हुए अंगारे उठाए और सिर पर पाल में रख दिए। सोचें वह रात कैसी बीती होगी। हमारे सामने अगर मच्छर आ जाए या चींटी काटने लगे तो हम विचलित हो जाते हैं। काटने की पीड़ा बर्दाश्त ही न होगी, तुरन्त मच्छर को उड़ाएँगे और चींटी को हटाएँगे। पर वे रात भर जलते हुए अंगारों को बर्दाश्त करते रहे। खोपड़ी धक्-धक्कर जलने लगी, धीरे-धीरे पूरा शरीर जलने लगा। रातभर गीदड़, सियार, भालू उनकी देह को नोचने लगे क्योंकि वे तो शव के समान खड़े हुए थे। सिर पर अंगीठी जल रही थी, पाँवों को पशु नोच रहे थे पर वह अमर आत्मा, काया के उपद्रवों को अंतिम श्रेणी तक बर्दाश्त करते रहे। वह तब तक खड़े रहे जब तक हड्डियों का ढाँचा अपने आप न गिर गया। काया के उपद्रवों को अंतिम श्रेणी तक सहन करना, सहनशीलता की, सामायिक की पराकाष्ठा है।

काया को तो एक-न-एक दिन गिरना ही है यह तो मरणधर्मा है, पर इस

स्थिति में प्रवेश पाने के लिए व्यक्ति को साधना से गुजरना पड़ेगा और यह साधना है- कायानुपशयना। पहले काया की भीतर-बाहर की अवस्थाओं को समझें, इसके उपद्रवों को समझें और मुक्ति का, महापरिनिर्वाण का लक्ष्य रखें। तभी तो महावीर और बुद्ध जैसे लोग अपने जीवन की लौकिक, दैवीय या अन्य किसी प्रकार की बाधा को सहन कर पाते हैं। मुक्ति की प्यास होने पर बेहतर तरीके से संप्रज्ञान होगा, आतापी बनेंगे और स्मृतिमान तथा सचेतन होकर अपनी साधना में गति और प्रगति कर सकेंगे।

मुक्ति के प्रेमी हमने, कर्मों से लड़ते देखे।
 मखमल पर सोने वाले, काँटों पर चलते देखे ॥
 सरसों का दाना जिनके, बिस्तर में भी चुभता था।
 काया की सुध नहीं, गीदड़ तन खाते देखे ॥
 सेठ सुदर्शन प्यारा, रानी ने फंदा डाला।
 शील को नहीं छोड़ा, शूली पर चढ़ते देखे ॥
 महलों में रहते थे जो, राजा हरिश्चन्द्र वो।
 सत्य को नहीं छोड़ा, मरघट पर बिकते देखे ॥
 अयोध्या नगर सजा था, राज्याभिषेक रचा था।
 ऐसे समय श्री राम, जंगल में जाते देखे ॥
 अब तो कुछ सोच ले प्राणी, बीती जाए ज़िंदगानी।
 यौवन आने से पहले, अर्थी पर चढ़ते देखे ॥

कर्मों से वही लड़ते हैं, जो मुक्ति के प्रेमी हैं। मुक्ति की प्यास हो, तो पंख खुद उग जाते हैं और हम मुक्ति के आकाश में उड़ जाते हैं। कायानुपशयना जमीनी राग को, काया की आसक्तियों को हटाने का उपक्रम है। अब हम कायानुपशयना से आगे के पड़ाव पार करते हैं। कायानुपशयना के साथ हम वेदानुपशयना को भी समझ चुके हैं- सुखद वेदना, दुःखद वेदना, असुखद या अदुःखद वेदना। वेदना अर्थात् अहसास। वेदना का अर्थ केवल पीड़ा ही नहीं है। वेदना का अर्थ है अनुभूति और संप्रज्ञान का अर्थ होता है प्रत्यक्ष अनुभूति करना। हम सभी जानते हैं कि जगत, काया, मन सब मरणधर्मा हैं, एक-न-एक दिन सारे संबंध टूट जाने वाले हैं, फिर भी हम संबंधों को निभाते हैं। क्यों निभाते हैं? कहते तो सभी हैं- ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या। लेकिन कहने वाले लोग क्या हकीकत में जगत को मिथ्या मान पाते हैं? क्या ब्रह्म को सत्य रूप में जीवन

में स्थापित कर पाते हैं ? नहीं कर पाते ! क्योंकि हम सभी केवल शब्दों के तल पर ही जीते हैं और बोलने में शास्त्रों के वचनों को बोलते हैं। संप्रज्ञान इसीलिए ज़रूरी है कि हम प्रत्यक्ष अनुभूति में जानें कि क्या वास्तव में यह जगत मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है। यूँ तो सभी जानते हैं कि काया मरणधर्मा है, अगर इस काया की चमड़ी को उतार दिया जाए तो सभी के एक ही रूप होते हैं। कहते हैं कि काया को जला दिया जाए तो मुट्ठीभर राख ही मिलती है फिर भी जीवनभर हर आत्मवादी, अध्यात्मवादी, ब्रह्मवादी सभी इस काया का पोषण करते रहते हैं, इसे सँवारते हैं, इसके सुख को सुख मानते हैं, इसी के भोग को अपने जीवन का आनन्द मानते हैं। इसीलिए श्री प्रभु कहते हैं आतापी होना ज़रूरी है, संप्रज्ञान करना ज़रूरी है। वास्तविक रूप से इस काया के प्रति, इसमें होने वाली वेदनाओं के प्रति सचेतन और स्मृतिमान होना ज़रूरी है। जब तक कोई बात ठोस अनुभूति में नहीं जाएगी तब तक सारी बातें ऊपर-ऊपर हैं। बुद्धिमान व्यक्ति अनुपश्यना के बारे में बोल तो सकता है, समझदार और बुद्धिमान अनुपश्यना के बारे में सुन तो सकता है लेकिन बुद्ध में और बुद्धिमान में फ़र्क़ है। बुद्धिमान अनुपश्यना के बारे में केवल बोलेगा, सोचेगा, लेकिन बुद्ध उसकी ठोस अनुभूति करेगा। व्यक्ति का ज्ञान जब तक ठोस अनुभूति के धरातल से न गुजरे तब तक ज्ञान की सुगंध न फैलेगी।

धर्म के नाम पर अध्यात्म की और शास्त्रों की जो ऊँची-ऊँची बातें की जाती हैं, अगर उनमें से दो प्रतिशत भी ठोस अनुभूति नहीं हुई तो उन किताबों को पढ़कर रखने का कोई मतलब नहीं है। मुनिजन और संतजन धार्मिक स्थलों पर बैठकर उनकी चर्चा कर सकते हैं, प्रवचन दे सकते हैं, पर अनुभूति के नाम पर शून्य। उनके पास कोई अनुभव नहीं है। मैंने सुना है कि प्राचीनकाल के सद्गुरु शिष्य के जीवन को बदल दिया करते थे। आज की तारीख में गुरुजन अपने शिष्य को नहीं बदल पाते। हाँ, वे अच्छे शब्द कहकर, वैराग्य की बातें करके एक व्यक्ति को संत ज़रूर बना सकते हैं, पर उस संत को सिद्ध बनाना उनके वश में नहीं है। किसी को संत बनाना आसान है, लेकिन सिद्ध बनाना ? बुद्ध को बुद्धिमान बनाना आसान है, लेकिन बुद्धिमान को बुद्ध बनाना एक बड़ी तपस्या है, साधना है, चुनौती है। बुद्धि के लेवल पर ऊँचा उठाना प्रोफेसर का अच्छा काम हो सकता है, एक फिलॉसॉफर भी यह काम कर सकता है। पर बुद्ध बनाना तभी संभव है जब स्वयं साधक, स्वयं संत, स्वयं श्रमण, स्वयं भिक्षु उसकी ठोस अनुभूति कर चुका है।

वेदानुपश्यना ठोस अनुभूति के लिए है कि हम धैर्य और शांतिपूर्वक काया में होने वाली सुखद वेदना या दुःखद वेदनाओं को भलीभाँति समझें और संप्रज्ञान करें। किसी ने पूछा है कि कमर और घुटनों में होने वाली संवेदनाओं का अहसास तो होता है, बाकी का नहीं होता। याद रहे शरीर में कई प्रकार की वेदनाएँ उठती हैं- तनाव, खिंचाव, दबाव, दर्द आदि कई तरह की दुःखद वेदनाओं का उदय होता है। इसी तरह कभी हमारे भीतर सुखद संवेदनाओं का भी उदय होता है, तब लगता है- आज तन में बहुत स्वस्थता है, ताज़गी है, आज तो कितने भी काम करने हों, तैयार हैं। जब हमारे मन में अनुकूल परिस्थितियाँ होती हैं हम रागमूलक प्रतिक्रिया करते हैं और तनाव, चिंता, क्रोध आदि के समय द्वेषमूलक प्रतिक्रिया होती है। अभी तक हमने चित्त को काया की अनुपश्यना करने के लिए पूर्ण सचेतन नहीं किया, इसलिए हमें पता नहीं चल पाता। अगर कायानुपश्यना को साधने का पूर्ण मनोयोग से प्रयत्न करते हैं तो मात्र तीन दिन में ही प्रत्येक वेदना का अहसास और अनुभव होने लगता है। चार-पाँच दिन में तो सुखद-दुःखद अहसास (feelings) स्पष्ट रूप से हमारी अनुभूति में आने लगते हैं। बेहतर होगा, हम मौन रखें और अधिक से अधिक कायानुपश्यना-वेदानुपश्यना करें- अनुभूति के धरातल पर उतरें।

काया को हम अनुभूति के आधार पर ही समझ सकते हैं। काया में भोग की प्रवृत्ति पैदा हुई, किसके आधार पर जाना ? अनुभूति के द्वारा ही जाना जाता है। विकारमूलक वेदना उठी कि निर्विकार वेदना उठी। वेदना है तो अहसास भी होगा और वेदना नहीं है तो अहसास भी नहीं होगा। हो सकता है शुरू में किसी वेदना की ठोस अनुभूति न हो, तो यह न समझना कि हमारे भीतर किसी तरह की कोई वेदना नहीं है या हम निर्वेद हो गए, निर्विकल्प हो गए। अभी तो हम पकड़ ही नहीं पाए हैं। लेकिन जब हम सुखद और दुःखद वेदनाओं की अनुभूति करने लग जाते हैं तो दोनों के प्रति अपना दृष्टा-भाव और साक्षीभाव साधने लगते हैं। दृष्टा-भाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। साधक को अपनी साधना में जिस एक चीज़ को साधना है वह है- दृष्टा-भाव। क्यों ? क्योंकि हमारे भीतर राग-द्वेष की प्रतिक्रिया चलती रहती है हर समय। जैसे- बहुत गर्मी हो और आप साधना कर रहे हों तो किसी साधक-साधिका के मन में आता है - काश, कूलर होता। यह क्या है ? यह राग-द्वेष मूलक प्रतिक्रिया है भीतर की। हमारा मन, चित्त सक्रिय हुआ, वह हमें प्रेरणा दे रहा है कि कूलर की ठंडी हवाओं की

व्यवस्था करें। यह राग-द्वेष की प्रवृत्ति पैदा हुई, मन ने प्रतिक्रिया दे दी। यहीं से कर्म के बीज उत्पन्न होते हैं। ये प्रतिक्रियाएँ कर्म-बीज हैं। प्रतिक्रिया कहाँ से आती है- राग-द्वेष से। पल-पल हमारे भीतर राग और द्वेष की प्रवृत्तियाँ पैदा होती रहती हैं। राग-द्वेष के बिना तो कोई क्रिया ही न होगी, गतिविधि ही न होगी, कार्य करने की प्रेरणा ही न जगेगी।

हम लोग अपने भीतर छिपे हुए रागों और द्वेषों को समझें। नैसर्गिक रूप से राग-द्वेष पनपते रहते हैं। राग-द्वेष से प्रतिक्रिया पैदा होगी और प्रतिक्रिया के द्वारा कर्म के बीज बो दिए जाते हैं। इसीलिए ज़रूरी है कि साधक दृष्टा-भाव को प्राथमिकता दे। जब वह अपनी काया के भीतर संवेदना की, वेदना की अनुभूति और अनुपश्यना कर रहा है तब वह राग-द्वेष से रहित होकर सचेतन के साथ जान रहा होता है कि कहाँ क्या हो रहा है। साधना के अन्य मार्ग किसी आरोपण से जोड़ सकते हैं, पर यहाँ जो है, जैसा है उसमें कोई अवरोध नहीं। जो है, जैसा है, व्यक्ति उसके प्रति सचेतन, जागरूक होता है और उनका भली-भाँति संप्रज्ञान करता है, सम्यक् प्रकार से उनका बोध प्राप्त करता है और जानता है कि उसकी काया और चित्त की क्या दशा है। राग-द्वेष या स्वयं के प्रति ग्लानि नहीं कर रहा है कि मेरे भीतर ये कैसे अजीब और विचित्र से भाव क्यों आ रहे हैं। वह स्वयं को शांत, और शांत, और सहज बनाने के भाव रखता है। अपने संकल्पों को और मजबूत करेगा, अपने संप्रज्ञान को अधिक-से-अधिक गहरा करने का प्रयत्न करेगा, दृष्टा-भाव को प्रगाढ़ बनाएगा। अगर दृष्टा-भाव प्रगाढ़ नहीं होगा तो अनुपश्यना ठीक से न हो पाएगी।

वेदानुपश्यना, कायानुपश्यना करते हुए हम इधर-उधर हो गए, विचारों में भटक गए तो साधक जान रहा होगा कि अनुपश्यना कर रहा था और यह खंडित हो गई। जो मैं स्वयं को जान रहा था वह मेरे चित्त के किसी संस्कारवश, काया के किसी प्रतिकूल उपद्रव के कारण वह अनुपश्यना बीच में खंडित हो गई। पुनः पुनः अनुपश्यना करूँगा, स्वयं को सहज शांति में लाते हुए फिर से आनापान-योग करते हुए अपने चित्त के हर संस्कार, हर उपद्रव, हर उदय-विलय का साक्षी होऊँगा। दृश्यमान काया में होने वाले सूक्ष्म-सूक्ष्म शरीरों के उदय, सूक्ष्म-सूक्ष्म संस्कारों के उदय-विलय को व्यक्ति धीरे-धीरे जानने लग जाता है। न केवल जानने लगता है बल्कि उसकी प्रकृति को समझते हुए उसका साक्षी भी होने लगता है। साक्षी होने के साथ-साथ काया के गुणधर्मों से निरपेक्ष

भी हो जाता है और मुक्त भी हो जाता है। वेदनानुपश्यना करते हुए आज हम जिस बिंदु की ओर जा रहे हैं वह और थोड़ा-सा बारीक रास्ता हो गया है।

पहले हमने सीधे सड़क पर क़दम रखा था, थोड़ी देर बाद भीतर की गलियों की ओर क़दम रखा था, अब तो हम लकड़ी की सीढ़ी पर आ गए हैं। अब और बारीक हो रहे हैं। पहली थी कायानुपश्यना, दूसरी थी वेदनानुपश्यना और तीसरी सीढ़ी है चिन्तानुपश्यना। अर्थात् अपने चित्त, अपने मन की अनुपश्यना करना ! अपने मन का संप्रज्ञान करना, भलीभाँति अपने चित्त का दर्शन करना। राग-द्वेष के भाव से मुक्त होकर, जो जैसा चित्त में उदय होता है वैसा अपने चित्त का सम्यक् दर्शन करना। पहले चरण में ही कोई साधक अपने चित्त का दर्शन नहीं कर पाएगा। दो-तीन मिनट में ही वह अपने मन के प्रवाहों में बहकर कहीं और पहुँच जाएगा। इसीलिए ज़रूरी है कि पहले वह कायानुपश्यना और वेदनानुपश्यना को साधे। इसलिए साधे कि काया और चित्त अलग-अलग नहीं हैं। चित्त में उठता है, काया में प्रकट होता है। चित्त में कोई तरंग पैदा होती है और काया में उसकी अनुभूति होती है। भूख किसे लगती है ? काया को या हमारे चित्त को ? दोनों तरफ से अनुभूति प्रकट होती है। काया को अनुभूति होती है तो वह चित्त के द्वारा प्रकट होती है। और चित्त में कोई चीज़ उदय होती है तो वह काया के द्वारा प्रकट होती है।

चित्त और काया एक-दूसरे के पूरक और जुड़े हुए पहलू हैं। चित्त की अनुपश्यना करके भी हम काया और वेदना की ही अनुपश्यना कर रहे हैं। काया और वेदना की अनुपश्यना करते हुए हम चित्त की ही अनुपश्यना करने के लिए तैयार हो रहे हैं। चित्त के पुद्गल परमाणु पूरे शरीर में व्याप्त हैं। मस्तिष्क उसका केन्द्र है लेकिन प्रभाव पूरी काया में व्याप्त है। इसीलिए श्री भगवान चित्त की अनुपश्यना करने की प्रेरणा देते हैं। यह तीसरा धरातल है। ज़रूरी नहीं है कि पहले आप कायानुपश्यना ही करें, वेदनानुपश्यना ही करें। यदि आप अपने मन में सहज निर्मलता शांति, सौम्यता, सरलता महसूस करते हैं, काया के सत्य के बारे में पहले से ही वाकिफ़ हो चुके हैं तो सीधे चित्त की अनुपश्यना कर सकते हैं। लेकिन अगर ऐसा सम्भव नहीं हो पा रहा है तो साधक को पहले स्थूल तत्त्व पर जाग्रत, सचेतन, स्मृतिमान होकर उसका संप्रज्ञान करना चाहिए, उसके बाद उसे बारीकी की ओर, सूक्ष्मता की ओर बढ़ना चाहिए। चित्त हमारी काया की सूक्ष्म स्थिति है।

चित्त की लगातार होने वाली ठोस अनुभूति का नाम चित्तानुपश्यना है। श्री भगवान कहते हैं जब कोई साधक अपने चित्त की अनुपश्यना करने लगता है तब वह धीरे-धीरे धैर्यपूर्वक जानने लगता है कि मेरा चित्त इस समय रागयुक्त है अथवा रागयुक्त न होने पर वह भलीभाँति जानता है कि इस समय चित्त वीतराग है। चित्त को जानते हुए वह भली प्रकार जानता है कि चित्त द्वेषयुक्त है और द्वेष के न होने पर वह भलीभाँति जानने लगता है कि चित्त वीतद्वेष है। जब चित्त में कल्पनाएँ उठने लगती हैं तब साधक भलीभाँति जानने का प्रयत्न करता है या जानता है कि मेरा चित्त अतिकल्पनाशील है अथवा जब चित्त शांत लगता है तब वह भलीभाँति जानता है कि चित्त संक्षिप्त है, शांत है, सहज है, मौन है। जब चित्त विक्षिप्त होता है तब साधक भलीभाँति जानता है कि यह चित्त क्या है, एक पागलपन है, रात-दिन उठता और घुमड़ता रहता है। चित्त मेरा विक्षिप्त है।

चित्तानुपश्यना करते हुए लगता है कि 'मेरा' चित्त विक्षिप्त है, लेकिन ज्यों-ज्यों साक्षी भाव प्रगाढ़ होता है, दृष्टा-भाव प्रगट होने लगता है, त्यों-त्यों लगता है 'चित्त' विक्षिप्त है। पहले तो लगता है 'मेरा' चित्त विक्षिप्त है। पहले तो 'मेरा' 'मेरी' का भाव प्रबल होता है, 'मैं' को सुखद-दुःखद अहसासों का अनुभव होता है। लेकिन जैसे-जैसे दृष्टा-भाव प्रगाढ़ और प्रखर होता जाता है तब लगता है यह काया सुखद अथवा दुःखद अहसासों से भरी हुई है। 'मैं' और 'मेरा' दोनों हट जाते हैं। दोनों ही लुप्त हो जाते हैं। पहले जानने वाली खुद काया होती है, चित्त या अन्तरमन होता है, लेकिन ज्यों-ज्यों दृष्टा-भाव प्रगट होता है, 'मैं' और 'मेरे' का भाव बिखर जाता है। तब वह दृष्टा और साक्षी-भाव से तटस्थ होकर काया को काया के रूप में जानता है।

अनुपश्यना की विलक्षण फलानुभूति है साक्षी-भाव, दृष्टा-भाव। जब तक देखने वाला अलग और दृश्य अलग नहीं होता तब तक बार-बार अनुपश्यना करनी होती है। 'मेरे' भीतर नहीं, चित्त में राग का उदय होता है क्योंकि दृष्टा ने देख लिया, दृष्टा ने चित्त को जान लिया। 'मैं' चित्त नहीं क्योंकि यह जो पल-पल बदलने वाला है क्या वही 'मैं' हूँ? अगर यह बदलने वाला 'मैं' हूँ तब तो बंदर हो गया, उछलकूद करता रहता हूँ, पलभर भी टिकता नहीं हूँ। तो फिर 'मैं' कौन हूँ? पहले-पहल तो यही लगता है कि पल-पल जो मन, चित्त, विचारों के नाम पर बदल रहा है यही मैं हूँ। ज्यों-ज्यों दृष्टा-भाव, अनुपश्यना गहरी होती है त्यों-त्यों चित्त, मन और विचारों को जानने लगते हैं।

पता चलता है कि 'मैं' भोगी नहीं हूँ, मैं यह संस्कार नहीं हूँ, क्रोधी नहीं हूँ, ये सब तो जन्म-जन्म के संस्कार हैं, चित्त के गुणधर्म हैं। रोटी की भूख लगती है तो 'मैं' नहीं खाता, यह तो काया में आहार नामक संज्ञा का उदय हो रहा है।

काया में प्रभाव उठेगा तभी चित्त में आएगा। लेकिन हम लोग यह जानने की कोशिश कर रहे हैं कि काया और चित्त अलग-अलग नहीं हैं। कभी चित्त काया को प्रभावित करता है, कभी काया चित्त को प्रभावित करती है, दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। जैसे कि पाँव में काँटा गड़ा है तो हमारा दिमाग वहाँ तक गया नहीं है, यह तो पूरा व्याप्त है। जैसे बिजली का कनेक्शन होता है। स्विच कहीं चालू करते हैं, बल्ब कहीं और जलता है। प्लग में अगर गलत तार डाल दिया जाए तो बल्ब फ्यूज हो जाएगा। सेन्टर को बंद कर देंगे तो यहाँ बल्ब नहीं जलेगा। दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसी तरह काया और चित्त एक-दूसरे से जुड़े हैं। काया चित्त की खबर देती है तो चित्त काया की।

कायानुपश्यना और चित्तानुपश्यना करते हुए जहाँ जो भाव आते हैं दूसरा उसकी खबर लाता है। चित्तानुपश्यना करने वाला अपने चित्त की गतिशीलता और शांत स्थितियों को जानने लगता है। चित्त समस्याओं से घिरा हुआ है या समाधानों को भी समेटे हुए है। चित्त बंधनयुक्त है या बंधनमुक्त ? जब तक दृष्टा-भाव नहीं आता हम लोग विचारों के धरातल पर चलते रहते हैं। दृष्टा-भाव के आते ही 'मैं' और 'मेरे' की आसक्ति बिखर जाती है और अनासक्ति के धरातल से कैवल्य का, बुद्धत्व के कमल का बीज अंकुरित होने लगता है।

आत्मदर्शन की, बुद्धत्व की शुरुआत कब होगी, संबोधि का प्रारम्भ कब होगा ? जब अनुपश्यना करते हुए अनुपश्यना करने वाला प्रगट हो जाएगा, तब कुछ हो सकेगा। तीन चीजें हैं- ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। दृष्टा, दर्शन और दृश्य। एक तो जानने वाला है, दूसरा वह जिसे जाना जा रहा है, इनके बीच में तीसरा है ज्ञान, जो अनुभव हो रहा है। दृष्टा जो देख रहा है, दृश्य जो देखा जा रहा है और दर्शन ! दृष्टा और दृश्य के बीच का जो संबंध है वह दर्शन है। ज्ञाता और ज्ञेय के बीच में जो अनुभूति का धरातल आ रहा है वही ज्ञान है। चित्त की अनुपश्यना करते हुए अपने मन को भलीभाँति समझने का प्रयत्न करना चाहिए। कोई भी मन से साफ स्वच्छ या कहेँ कि दूध का धुला नहीं है। हम अपने सार्वजनिक चेहरे को (पब्लिक फेस को) कभी खराब नहीं होने देंगे लेकिन भीतर से साधक को ईमानदार रहना चाहिए और अपने चित्त की दशा को स्वीकार भी

करना चाहिए। जो है सो है। इस सन्दर्भ में यह पुनः पुनः अनुभव किया जाना चाहिए जब तक वह वास्तविक रूप से दृष्टा न हो जाए। होता ऐसा है कि व्यक्ति साक्षी-भाव को आरोपित कर लेता है। यह मन के तल पर देखना होता है, बुद्धि के तल पर होता है। लेकिन जब भीतर में दुःखद और सुखद दोनों ही अनुभूतियाँ शांत हो गई हैं, अदुःखद और असुखद वेदना वाली स्थिति आ गई है, तब व्यक्ति चित्त के धरातल पर नहीं वास्तविक रूप से चित्तानुपश्यी होता है। तब किसी भी प्रकार का उदय-विलय नहीं होता और वह साक्षी-भाव में स्थिर हो जाता है।

जब तक 'मैं' और 'मेरे' का भाव अनुभूति के धरातल पर आता रहे तब तक साक्षी-भाव को आरोपित साक्षी-भाव समझना, लेकिन इस भाव के विलुप्त होते ही साक्षीत्व जगने लगता है। चित्त की अनुपश्यना करने पर, उसका अवबोधन करने पर चित्त अपने-आप ही शांत हो जाता है, समाहित, सउत्तर, विमुक्त हो जाता है। राग-द्वेष युक्त स्थिति चित्त में उदय हो सकती है, उदय होते हुए देखते भी हैं, लेकिन चित्त के धर्म, इसकी प्रकृति, इसकी व्यवस्थाओं को समझकर इनसे प्रभावित और प्रेरित नहीं होते। वह तो चित्त के संप्रज्ञान की ओर स्मृति रखता है और धीरे-धीरे शांति आती जाती है। इस बीच अगर साधक को लगे कि चित्तानुपश्यना करते हुए चित्त बार-बार राग-द्वेष युक्त प्रतिक्रियाएँ करने लगा है, विचारधाराएँ, संकल्प-विकल्प प्रभावित कर रहे हैं उस स्थिति में दस-बीस-पचास गहरी लंबी श्वास लेनी और छोड़नी चाहिए। तब श्वासों को मंद-मौन करते हुए पुनः चित्तानुपश्यना करने लगे।

दृष्टा-भाव इतना आसान नहीं है भीतर प्रगट होना। दृष्टा-भाव को प्रगट करने के पूर्व अनुपश्यना को साधने के लिए दत्तचित्त होना होगा। अनुपश्यना के न होने पर दृष्टा-भाव आरोपित हो सकता है। जो हो रहा है उसके प्रति सचेतन होकर संप्रज्ञान कर रहे हैं। आरोपण नहीं केवल सचेतनता। संभव है यह सचेतनता पहले मन के तल पर हो या पहले चित्त के तल पर हो, या पहले बुद्धि के तल पर हो ! मेरा अनुरोध है यह जिस तल पर हो रहा है, उसी तल पर होने दीजिए। आगे की चीजों को शब्दों में मत लाइए, उसे खुद ही अपने भीतर प्रगट होने दीजिए। जो है, साधक उसे स्वयं जाने। क्योंकि बौद्ध कहते हैं आत्मा नहीं है, जैन कहते हैं आत्मा है, वेद कहते हैं सब कुछ ब्रह्म है। अब हम किसको मानें ? किसकी बात को सत्य मानें ? मैं तो कहूँगा कि किसी की भी बात

को सत्य और असत्य के बीच में मत लाओ। न सत्य है, न असत्य है। सत्य इसलिए नहीं है कि अभी हमने तीनों धरातलों को नहीं जाना। और असत्य इसलिए नहीं है कि अभी तक हम उस अनुभूति तक पहुँचे ही नहीं हैं। इसलिए हम अब अपने भीतर ही जानेंगे कि क्या हो रहा है, किस धरातल पर साक्षी और दृष्टा हो रहे हैं। आत्मा के तल तक या प्रभु के तल तक या परामन की स्थिति तक पहुँच रहे हैं ?

चित्त के तीन तल हैं- साधारण चित्त, अवचेतन चित्त और परा चित्त यानी साधारण मन, अवचेतन मन और परा मन- इन तीनों अलग-अलग स्थितियों में हमारी गति कहाँ तक है। यह तो सत्य से साक्षात्कार का मार्ग है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम किसी और के बताए रास्ते पर चलें। सत्य से साक्षात्कार के लिए तो स्वयं को ही चलना होता है, भीतर ठोस अनुभूति करनी होती है। किसी की भी वाणी को बीच में नहीं लाना है। यह बोलना और बताना तो दीप जलाने की तरह है। ऐसा किसी ने जाना और तुम भी अपने भीतर उतरो, अपने-आप से मुलाकात करो और अपनी-अपनी सच्चाइयों से साक्षात्कार करो। इसीलिए मैं पुनः कहता हूँ कि ज़रूरी नहीं है आप इन सब बातों को जिँएँ। जो हमारे अनुकूल है, हमारी प्रज्ञा, हमारी प्रतिज्ञा, हमारी मेधा, हमारी बुद्धि में जो बात पकड़ में आ रही है, हम उसी पर केन्द्रित हो पाएँगे। जो बात पकड़ में ही नहीं आ रही, हम उस पर कैसे स्थापित हो पाएँगे ? हम केवल अपने मन और चित्त को समझें।

जीवन की समस्त गतिविधियों का आधार व्यक्ति का अन्तरमन है। उसकी प्रेरणा से ही हम समस्त गतिविधियों को संचालित करते हैं। इसलिए ज़रूरी है कि व्यक्ति के मन की दशा परिष्कृत, सात्विक व निर्मल हो। अगर मन दूषित है तो प्रेरणाएँ भी दूषित उठेंगी और काम भी दूषित करेंगे। गाँधीजी के तीन बंदर सबको याद हैं- बुरा मत देखो, बुरा मत सुनो, बुरा मत बोलो, जबकि चंद्रप्रभ के चार बंदर हैं और यह चौथा बंदर कहता है- बुरा मत सोचो। सोचने में खोट होगी तो आगे सब चीज़ें खोटी होती चली जाएँगी। अगर मन परिष्कृत नहीं है तो जीवन की सारी गतिविधियाँ बिगड़ती चली जाएँगी। मन की एजेंसी ठीक होनी चाहिए। इन्द्रियों के रास्ते तब ठीक से काम कर सकेंगे। आधार मन है।

एक संत हुए : चक्षुपाल। ऐसे महान संत जिनके लिए कहा जाता है कि वे

अर्हत् अवस्था को उपलब्ध हुए थे। जन्मांध होने के कारण उन्हें चक्षुपाल नाम मिला। नेत्रहीन चक्षुपाल रास्ते पर चल रहे थे, उसी रास्ते से कुछ चींटियाँ भी चल रही थीं। उनमें से एक चींटी चक्षुपाल के पाँव के नीचे आकर मर गई। शिष्यों ने भगवान से पूछा- भगवन् जब चक्षुपाल के पाँवों से चींटियाँ मरती हैं तब क्या उन्हें इसका दोष नहीं लगता। जबकि वे तो अर्हत् कहलाते हैं। भगवान ने कहा- वत्स, हिंसा का दोष मन के आधार पर लगता है। चूँकि अर्हत् व्यक्ति का चित्त शांत हो चुका है, विमुक्त हो चुका है, इसलिए चित्त के परिणाम जब तक हिंसा के साथ जुड़े हुए नहीं होंगे तब तक किसी भी व्यक्ति को हिंसा का दोष नहीं लगेगा।

शिष्यों ने फिर भगवान से पूछा- जब चक्षुपाल के भीतर अर्हत् होने की क्षमता है तब यह व्यक्ति नेत्रहीन क्यों है ?

भगवान ने कहा- यह व्यक्ति इसलिए नेत्रहीन है क्योंकि इसने अपने पिछले जन्म में जब वह वैद्य था तब जानबूझकर एक स्त्री की आँखें फोड़ डाली थीं। उसी कर्म के उदय से आज यह नेत्रहीन है।

साधकों, स्मरण रखना जिस तरह बैलगाड़ी के चक्के बैल का अनुसरण करते हैं ठीक उसी प्रकार व्यक्ति के पूर्व जन्मकृत कर्म उसका अनुसरण करते रहते हैं। भले ही उस व्यक्ति में अर्हत् होने की क्षमता भी हो ! चक्के बैलों को छोड़कर कहीं अटकते नहीं हैं, क्योंकि गाड़ी बैलों से बँधी है और चक्के गाड़ी से बँधे हैं। कुल मिलाकर सब एक-दूसरे से बँधे हुए हैं। मन ही समस्त प्रवृत्तियों का पुरोधा है, अगुआ है, वही प्रेरक है। जैसी उससे प्रेरणा मिलेगी व्यक्ति वैसा ही काम करेगा। इसीलिए मन जब मायूस होता है तो हमारी गतिविधियाँ भी मायूसी से भरी होंगी। मन में जब गुस्सा होता है तो उत्साह काफूर हो जाता है, जैसे-तैसे काम करते हैं, इसलिए ज़रूरी है कि व्यक्ति के मन की स्थिति परिष्कृत हो, शुद्ध और सात्विक हो। जीवन में मन को दूषित करने से बढ़कर कोई पाप नहीं है और मन को संस्कारित और परिष्कृत करने से बड़ा कोई धर्म और अध्यात्म नहीं है। मन को निर्मल करना जीवन की सबसे बड़ी तीर्थ यात्रा है।

साधकों की ओर से प्रश्न पूछा जा रहा है कि मन को जड़ माना जाता है तो उसे समस्त प्रवृत्तियों का आधार कैसे माना जाएगा ?

खयाल रहे, जब तक जीवन में चेतन का संयोग है तब तक कोई भी चीज़ जड़ नहीं है। चेतना से अलग हो जाने पर उसे हम जड़ कह सकते हैं। कोई परम्परा इसे जड़ मानती है और कोई परम्परा इसे जड़ नहीं मानती, निर्जीव नहीं मानती। यह अलग-अलग परम्पराओं का खेल है। मैं कहना चाहूँगा कि जब हम अनुपश्यना और सत्य की ठोस अनुभूति के धरातल पर आ गए हैं तो सारी परम्पराओं को हटा दें। कौन क्या कहता है इसे भूल जाओ और खुद समझो, खुद जानो। अगर मैं अभी बोल रहा हूँ तो वही बोलने का प्रयत्न कर रहा हूँ जो अपने भीतर जान रहा हूँ। जो मैं कह रहा हूँ उसे भी आप अपनी अनुभूति के धरातल पर देखें। आप जो कर रहे हैं उसकी प्रेरणा आपको कहाँ से मिलती है—मन से या किसी किताब से ? कहाँ से मिलती है ? खुद की अनुभूति से जानो और मानो, नहीं तो परे हटा दो। सत्य के मार्ग पर आरोपित सत्य का अनुकरण नहीं होता। सत्य को इस बात से कोई सरोकार नहीं होता कि तुम किस मान्यता के हो, सत्य को केवल सत्य से सरोकार है।

शास्त्र तो कहते हैं— कर्ता-धर्ता भोक्ता सब आत्मा है। अभी तो हम आत्मा को ला ही नहीं रहे। अभी तो आत्मा का अता-पता ही नहीं है। अभी तो मन के धरातल को समझ रहे हैं और मन की प्रकृतियों को जान रहे हैं। इसलिए मन पर, चित्त पर बोल रहा हूँ। हम इसकी अनुपश्यना कर सकते हैं। आत्मा की अनुपश्यना कैसे करोगे ? जिसकी अनुभूति ही नहीं है उसकी अनुपश्यना कैसे होगी ! आत्मा अर्थात् हमारे भीतर जो चैतन्य तत्त्व है वह प्रकट होगा तब पता चलेगा, यह दृष्टा-भाव वास्तविक तौर पर चैतन्य भाव है।

आप लोग मन को गौण न करें। मन का शुद्ध होना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि हमारा पहला सत्य मन में ही छिपा होता है, सारी प्रेरणाएँ इसी में छिपी रहती हैं। इसीलिए मन का ठीक होना ज़रूरी है। नियम, व्रत, प्रतिज्ञाएँ कितनी भी ले ली जाएँ, लेकिन मन राजी न हो तो ? मन की खोट ही प्रतिज्ञा लेने को प्रेरित करती है वरना प्रतिज्ञा की क्या ज़रूरत है ? तपस्या करने वालों से उनके मन की स्थिति पूछो— क्या उनका क्रोध चला गया ? मन की खोट जब तक दूर नहीं होगी, तब तक केवल तन को तपाना ही हुआ।

तन धोया मन रहा अछूता— इस मन को समझने के लिए ही चित्तानुपश्यना कर रहे हैं।

‘महासति पट्टान सुत्त’ के ज़रिए हम किसी बौद्ध शास्त्र का पारायण नहीं

कर रहे हैं। हम लोग कोई बौद्ध नहीं हैं, जो इस शास्त्र का चिंतन-मनन कर रहे हैं। बल्कि गुणानुरागी बनकर शास्त्र में से कुछ ढूँढ निकालने की कोशिश कर रहे हैं। जिसमें सत्य तक पहुँचने का रास्ता छिपा है, उसमें से दस प्रतिशत भी अगर हम आत्मसात कर सकते हैं तो वह किसी भी पंथ या परम्परा का क्यों न हो, हम उसे धारण करेंगे, उसका अनुशीलन करेंगे। हाँ, हम किसी का अंध-समर्थन भी नहीं करेंगे। खुद जानेंगे, खुद समझेंगे और ठोस अनुभूति करेंगे। अनुभूति के आधार पर जो आएका स्वीकार है, जो नहीं आएका उसे इंकार भी कर देंगे। सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय, संभव है महासति पट्टान सुत्त में भी कोई थोथा हो और हो सकता है इसमें बहुत बड़ा सत्य छिपा हुआ हो।

कई बार लकड़ी केवल लकड़ी लगती है लेकिन घर्षण करने पर उसमें से भी आग सुलग जाती है। काला कोयला भी हमें रोशनी दे देता है, अग्नि दे देता है, भोजन पका देता है। सकारात्मक देखें। अगर हमारा मन नकारात्मक है तो जीवन के सारे परिणाम नकारात्मक होंगे। और मन के सकारात्मक होने पर जीवन के सारे परिणाम सकारात्मक आएँगे। चित्त में प्रसन्नता बनाए रखें। दूसरों के निमित्तों के आधार पर अपने चित्त को प्रभावित न होने दें। जो हो रहा है उसे होने दें, उसे लेकर अपने चित्त को मायूस न करें। क्योंकि चित्त के मायूस होते ही जीवन की अन्य गतिविधियाँ भी उससे प्रभावित होने लगती हैं। एक बार ऐसा हुआ-

एक महा कंजूस व्यक्ति का बेटा बीमार हो गया। पिता इतना कंजूस कि उसने अपने बेटे पर खर्चा नहीं किया। बेटा और अधिक बीमार होता गया, मरणासन्न हो गया। लोगों ने कह दिया कि अब यह मरने वाला है, इसे पलंग से नीचे उतार दो। कंजूस ने सोचा कि मर गया तो घर के बर्तन, बिस्तर सब धोने पड़ेंगे तो घर के बाहर ले आया, चौकी पर लिटा दिया। वह तड़प रहा था। इतने में ही उसने देखा कि श्री भगवान आहारचर्या के लिए उधर से जा रहे हैं। उनके शांत तेजस्वी मुखमंडल को देखकर वह प्रभावित हुआ, आँखें मिल्ती, मन में प्रसन्नता छा गई। वह सोचने लगा, 'मैं मरने वाला हूँ लेकिन प्रभु तेरी कितनी कृपा हो गई कि मरने से पहले तुमने मुझे एक महान सत्गुरु के दर्शन करवा दिए।' चित्त में प्रसन्नता छा गई। उसके मन की भाव-दशाएँ अत्यन्त निर्मल हो गई और इसी भाव-दशा के साथ उसने अपनी काया छोड़ दी।

कहते हैं काया छोड़कर वह ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न देवता बन गया। देवता बनकर वह श्री भगवान की सभा में उपस्थित हुआ और वह कृपण भी; चूँकि उसका बेटा मर गया था अतः वह अपने मन की अवस्थाओं को ठीक करने के लिए, भगवान के पास पहुँचा। वहाँ उस ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न व्यक्ति को देखकर उसने पूछा कि यह कौन है। पता चला कि उसका ही पुत्र था। 'मेरा बेटा, अरे उसने तो कभी सौ सोनेयों का भी दान नहीं किया, मैंने कभी उसे एक पैसा भी दान देने के लिए नहीं दिया, वह मरकर इतना महान देवता कैसे बन गया।' भगवान ने कहा- मरने से पहले इसके चित्त की जो प्रसन्न अवस्था थी, सद्गुरु को देखकर उसके मन जो उत्कृष्ट भावदशा बनी थी वही इसके इतने ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न देवता बनने में सहायक हुई।

साधक समझें कि अगर हम प्रसन्नचित्त रहेंगे तो सुख और दिव्यता हमारा छाया की भाँति अनुसरण करेंगे। हम मन को परिष्कृत करें। इसके लिए चित्तानुपश्यना परम सहायक है। आप सभी अपने-अपने चित्त को भलीभाँति समझें और इसे परिष्कृत, निर्मल, संस्कारित और शुद्ध करने के लिए प्रयत्नशील हो सकें, इसी शुभ भावना के साथ-

नमस्कार !



11

अन्तर्द्वन्द्व से मुक्ति

स्वयं से साक्षात्कार करते हुए जैसे-जैसे हम भीतर की अनुपश्यना करते हैं वैसे-वैसे अपनी इस काया की सच्चाइयों से वाकिफ़ होते जाते हैं। साधना का मजेदार कार्य व्यक्ति को अपनी इस साढ़े तीन हाथ की काया में ही करना होता है। मंदिर, मस्जिद, गंगास्नान या तीर्थयात्रा के लिए जाना हो तो हमें कहीं बाहर जाना होता है, कुछ करना होता है। लेकिन अनुपश्यना वह साधना है जिसके लिए हमें कहीं जाना नहीं, कुछ करना नहीं है। वरन् हम जो जैसे हैं, जहाँ हैं वहीं पर स्वयं से मुखातिब होना होता है। जैसे हम आइना देखते हैं तो स्वयं को ही देखते हैं, खुद से ही मुखातिब होते हैं वैसे ही अनुपश्यना करने वाला साधक अपने आप से रूबरू होता है। बस सहज अवस्था में अपनी कमर और रीढ़ को सीधी रखकर बैठता है, अपनी स्मृति को अपनी नासिका प्रदेश पर केन्द्रित करता है और अपने श्वासोश्वास पर ध्यान करते हुए अपनी काया और जीवन के प्रति जागरूक होता है, सचेतन और प्रज्ञाशील होता है। अपनी बुद्धि, मेधा, प्रतिभा और जागरूकता को अपने साथ लगाता है।

जब श्री भगवान काया की बात करते हैं तो मानकर चलें कि यह काया ही हमारा जगत है, जीवन का आधार है। हमारे सारे अध्यात्म का रहस्य इस काया रूपी लोक में ही व्याप्त है। इस काया के अलावा हमारा कोई अस्तित्व नहीं है। माना कि काया अनित्य है, अस्थिर है, नाशवान है पर इस नाशवान के भीतर ही तो अविनाशी रहता है, अनित्य के भीतर ही नित्य रहता है। तब जीवन क्या है—यह शरीर और आत्मा का खेल है, नश्वर के भीतर विराजित अनश्वर का खेल है। जैसे घड़ी होती है। घड़ी एक तत्त्व है और घड़ी के भीतर प्रतिपल जो धड़कन चल रही है, गति हो रही है, जो परिवर्तन हो रहा है, जो सक्रियता दिखाई दे रही है, फिर भी हर पल वक्त आगे से आगे बढ़ता जा रहा है। ऐसा ही हम सभी के जीवन में हो रहा है। साँस चल रही है, दिल की धड़कन चल रही है। इसी तरीके से समय भी आगे जा रहा है। शरीर और आत्मा दो भिन्न और दो अभिन्न तत्त्व हैं। जैसे घड़ी और इसमें चलने वाली व्यवस्था दो भिन्न तत्त्व भी हैं और अभिन्न तत्त्व भी हैं। हम उन्हें अलग कर नहीं सकते। साधक अपनी भेद-विज्ञान की दृष्टि से कि शरीर अलग और आत्मा अलग, जान सकता है, समझ सकता है।

हमने अभी तक अनुपश्यना के सिद्धांत को समझते हुए, अनुपश्यना की साधना को समझते हुए श्वास पर ध्यान किया है, इस पर स्मृतिमान और जागरूक होने का अभ्यास किया है। कायानुपश्यना के द्वारा हमने काया के विभिन्न गुणधर्मों पर सचेतन बनने का अभ्यास और प्रयास किया है। साथ ही काया में होने वाली विशिष्ट वेदना और संवेदनाओं पर, उसके खास-खास अहसासों पर स्वयं को जागरूक करने का अभ्यास किया है। वेदना और संवेदना के आधार पर ही हम काया की और काया के अंगों की अनुभूति करते हैं। ये सब अभिन्न, एक-दूसरे से जुड़े हुए तत्त्व हैं। वेदना अर्थात् काया की जो फीलिंग्स हैं उनकी ठोस अनुभूति करते हैं। काया की अनुपश्यना करते हुए जब हम काया को समझते हैं, उसकी बारीकियों को समझकर ही काया में उठने वाली वेदना, इसकी जीवनी-शक्ति, काया की ऊर्जा, संवेदना, अनुकूल-प्रतिकूल गुणधर्मों के आधार पर ही हम काया को जानते हैं। जब हम यह सब कर रहे होते हैं तब एक और तत्त्व होता है जो इनकी अनुभूति करता है, इनके साथ लगा रहता है, इनका सहयोगी होता है वह है हमारा चित्त, हमारा मन। पहले पहल सीधे-सीधे रूप में कोई भी व्यक्ति अपने चित्त से मुखातिब नहीं हो

सकता है क्योंकि चित्त पकड़ में ही नहीं आता। जैसे आसमान में चलने वाली हवाएँ पकड़ में नहीं आतीं फिर भी हमें अनुभूति होती है। सागर में उठने वाली लहरें हमें दिखाई तो देती हैं पर कोई लहर पकड़ में नहीं आतीं, ऐसे ही हमारे चित्त की धाराएँ भी सीधी हमारी पकड़ में नहीं आतीं। लेकिन किसी भी साधक को चित्त के दर्शन करने हों, चित्त के प्रभावों को समझना हो कि किस तरह हमारा चित्त उद्वेलित करता है, तो हमें सीधे चित्त से मुखातिब होने के बजाय अपनी काया से मुखातिब होना चाहिए। जब हम स्थूल में होने वाली वेदना-संवेदना को समझेंगे, उनके साक्षी हो जाएँगे, उनके प्रति सचेतन हो जाएँगे तब ही चित्त के प्रति जागरूक और सचेतन होने का अवसर आएगा। प्रारम्भ में सीधा चित्त से मुखातिब होने पर असफलता हाथ लग सकती है। इसीलिए चित्त तक पहुँचने के लिए दो पद्धतियाँ चलती हैं- एक है- काया, काया के अंग, काया की वेदनाओं पर जागरूक होना और दूसरी है- काया में स्थित षट्चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणीपुर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा-चक्र) पर व्यक्ति स्वयं को सचेतन करे, जागरूक करे। इन छः चक्रों को जानते हुए, समझते हुए, भलीभाँति ठोस अनुभूति करते हुए जब वह छोटे चक्र पर पहुँचता है तब कह सकते हैं कि अब वह अपने चित्त से मुखातिब हो सकता है, वहाँ की अनुपश्यना कर सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधना पद्धति हो ही नहीं सकती है, फिर चाहे उसका नाम कुछ भी क्यों न हो। या तो साधक काया की वेदना-संवेदना, काया के अंग, काया में होने वाले अनुकूल-प्रतिकूल गुणधर्मों के प्रति जागे या फिर शरीर में स्थित षट्चक्रों पर जागे। अन्ततः तो हमें चित्त की अनुपश्यना ही करना है। पहुँचना भी चित्त-शुद्धि की ओर ही है।

चित्त की शुद्धि, अन्तरमन की शुद्धि, अन्तरमन से साक्षात्कार, अन्तरमन के सत्य से साक्षात्कार साधक के लिए बहुत सहज या आसान नहीं है। महावीर को, बुद्ध को वर्षों-वर्ष तपस्या करनी पड़ी, जंगलों में रहना पड़ा तो इसीलिए कि वे अपने चित्त की अनुपश्यना, चित्त की शुद्धि, चित्त से साक्षात्कार के लिए ही प्रयत्न करते रहे। ध्यान रहे उन्होंने भी सीधे-सीधे चित्त से साक्षात्कार नहीं किया होगा। उन्होंने चित्त पर टिकने के लिए किन्हीं और बिंदुओं को भी माध्यम बनाया होगा। महावीर कभी नदी किनारे, कभी झरने के पास जाकर बैठ जाते थे और वहाँ चलती-फिरती, उठती-गिरती लहरों पर ध्यान धरते थे। कभी पेड़ के पत्तों पर त्राटक करते, कभी दीवार पर एकटक देखने लगते। व्यक्ति को जितनी

समझ साधना की होती है उतनी पद्धतियाँ वह अपने जीवन के साथ जोड़ता है। ये बाहर के त्राटक एकाग्रता बनाने के लिए हैं। अन्ततः तो व्यक्ति को अपने भीतर ही उतरना पड़ता है। अपनी-अपनी स्थापना के लिए साधना-पद्धति के अलग-अलग नाम दिए जाते हैं, अन्यथा आखिरकार यह काया ही है जिसके माध्यम से, जिस पर ध्यान किया जाता है। फिर चाहे षट्चक्रों पर ध्यान हो कि पूरी काया पर कि हृदय पर या आज्ञा चक्र पर या ओऽम, सोऽम पर ध्यान कर लो, कुल मिलाकर चलना-फिरना इस काया में ही है। साढ़े तीन हाथ की इस काया में ही हमारा सारा सत्य समाहित है।

हमारे सामने यह सत्य स्थापित हो जाना चाहिए कि- तेरा तेरो पास है अपने मांही टटोल। कबीर ने कहा था- मैं तो तेरे पास में- जो कुछ है वह तुम्हारे ही पास है यहाँ तक कि प्रभुजी तुम्हारे ही पास में है। इसीलिए वे कहते हैं- कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढे वन मांही- सब तुम्हारे ही पास है। इस काया के अंदर ही, बाहर कहीं भटकने की ज़रूरत नहीं है। हमारी जो भी ज़िंदगी है चाहे शास्त्र उसे नश्वर या अनश्वर कहे, चाहे कोई हमें क्रोधी कहे या भोगी, हमारे जो भी गुण-दुर्गुण-सद्गुण हैं सारे इस काया के इर्द-गिर्द ही व्याप्त हैं। हमारा समाज, संबंध, पत्नी, माँ-बाप, भाई-बहन ये सब क्या हैं, इसी काया से जुड़े हुए रिश्ते हैं। काया अर्थात् जीवन ! जीवन का एक अंग काया भी है, चित्त भी है। चित्त से साक्षात्कार करने के लिए काया से साक्षात्कार करना ज़रूरी है। चित्त और काया अलग-अलग नहीं हैं।

चित्त हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। यह मस्तिष्क का ही एक हिस्सा है, मस्तिष्क की ऊर्जा है, विद्युत तंग है। यह चित्त मस्तिष्क में ही रहता है और मस्तिष्क काया में रहता है। इसलिए चित्त और मन काया से भिन्न नहीं है और न ही हमारी काया मन से भिन्न है। जो चित्त में उठेगा वह काया में भी उठेगा। जब चित्त और चेतना की बात उठती है तो जान लें कि चित्त काया का हिस्सा है और चेतना हमारी काया को ऊर्जा देती है। चित्त, चेतना, काया सब एक-दूसरे से घुले-मिले तत्त्व हैं। ऐसे ही जैसे इन्द्रधनुष के रंग। चित्त, मन, बुद्धि, काया, अहंकार आदि इन्द्रधनुष के रंगों की तरह सब एक-दूसरे से घुले-मिले हैं, कोई किसी से स्वतंत्र नहीं है, सब एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। काया आत्मा को प्रभावित करती है, आत्मा काया को प्रभावित करती है। हम तो स्वयं से मुखातिब हों, बाकी सारे शब्दों को हटा दें। और देखें कि क्या हैं हम ! क्या हूँ मैं !

काया की अनुपश्यना करने वाला व्यक्ति चित्त की अनुपश्यना करने में भी सफल होता है। जो श्वास पर सचेतन नहीं हो पाता वह काया पर कैसे जग पाएगा। जो काया में नहीं जग सकता, वह इसमें होने वाली वेदना-संवेदनाओं पर कैसे जग सकेगा, उन्हें वह कैसे पहचान सकेगा, कैसे पकड़ सकेगा। जो स्थूल पर ही सचेतन नहीं हो सकता वह अपने अन्तरमन का साक्षात्कार कैसे कर पाएगा ? क्योंकि हमारे चित्त के विचित्र धर्म हैं। काया तो काली या गोरी जैसी भी है जीवन भर वैसी ही दिखाई देगी, लेकिन हमारा चित्त, हमारा मन ?

मन लोभी मन लालची मन चंचल चितचोर।

मन के मत चलिए नहीं, पलक-पलक मन और।।

हम इस मन के अनुसार न चलें। यह तो पल-पल में बदलता रहता है। यह चित्त बहुत विचित्र है। कहते हैं श्री भगवान पूर्णिमा के दिन टहलने के लिए निकले। उनके साथ मेघ नामक शिष्य भी चला। बौद्ध शास्त्रों में उसे मेघीय के नाम से जाना जाता है। साथ में टहल ही रहे थे कि मेघीय ने कहा- मेरी इच्छा कहीं और टहलने की है, इसलिए मैं जाता हूँ। भगवान ने कहा- तुम्हारी जाने की इच्छा है, तुम चले जाना, लेकिन अभी मैं अकेला हूँ, जब कोई अन्य भिक्षु आ जाए तब तुम चले जाना।

नहीं प्रभु, मैं तो अभी जाऊँगा- मेघीय ने कहा।

भगवान के मना करने के बावजूद अगर वह जाना जाहे तो जाए। भगवान ने पुनः कहा कि उचित यही है कि कोई दूसरा भिक्षु आ जाए तब तुम चले जाना।

पर उसने नहीं सुनी और वह चला गया। साँझ के समय जब लौटकर आया तो कहने लगा- आज मेरा चित्त नहीं लगा। जब मैं यहाँ था तब भी नहीं लग रहा था और जहाँ चला गया वहाँ भी मेरा चित्त नहीं लगा। तब भगवान ने भिक्षुओं से कहा- इच्छाचारी नहीं होना चाहिए। साधकों ! चित्त चंचल है, चित्त क्षणिक है, इसका दमन ही सुखदायक है। इसका भोग कभी भी सुखदायक नहीं होता। इसलिए तुम अपने चित्त पर विजय प्राप्त करो और इच्छाधारी बनने की बजाय अनुशासनचारी बनने का प्रयत्न करो।

जो व्यक्ति अपने मन के अनुसार ही चलता-फिरता रहता है, वह कहीं भी नहीं पहुँच सकता। इसीलिए जीवन में गुरु की आवश्यकता है। चित्त के दमन के लिए, चित्त के शमन, अनुशासन, चित्त पर विजय प्राप्त करने के लिए गुरु सहायक है। गुरु व्यक्ति को स्वेच्छाचारी नहीं बनने देता। समय-समय पर वह

अंकुश लगाता रहता है, ताकि शिष्य मर्यादा में रहे, नियंत्रण में रहे। जरा सोचें कि जो व्यक्ति बाहर में ही नियंत्रण में नहीं रह सकता वह चित्त को अपने नियंत्रण में कैसे रख पाएगा ! जब हम अपने वचन, विचार और व्यवहार को ही अपने नियंत्रण में नहीं रख सकते तब साधना-मार्ग का क्या अर्थ ? कभी राजुल ने रथनेमि से कहा था- हे रथनेमि, अगर हम लोग रहट की तरह (कुएँ पर रहट जिस पर रस्सी चलती है) यूँ ही अस्थिर बने रहेंगे तो साधना-मार्ग पर कैसे स्थिर हो पाएँगे।

अभी कुछ खाने को चाहिए, कि अभी कहीं जाने को चाहिए, अभी कुछ भोगने को चाहिए, अभी कुछ और प्राप्त करने को चाहिए, इसी तरह और-और की चाहत में मन को भटकाते रहेंगे, चित्त को इधर-उधर डोलाते रहेंगे तो अपने चित्त को कैसे साधेंगे ? इस पर कैसे विजय प्राप्त करेंगे ? औरों पर विजय प्राप्त करना आसान होता है पर स्वयं पर विजय प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। हज़ारों-हज़ार योद्धाओं पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा एक अपने पर विजय प्राप्त करना अधिक श्रेष्ठ है। जो निर्वाण का साक्षात्कार करना चाहता है, सत्य से साक्षात्कार करना चाहता है, जो अपने चित्त में चलने वाली राग-द्वेष की प्रतिक्रियाओं से मुक्त होना चाहता है, ऐसे हर साधक स्वयं के प्रति अपनी जागरूकता को साधे, स्वयं के प्रति स्वयं को सचेतन करे। फिर चाहे वह काया के अंग-प्रत्यंग पर या काया की वेदना-संवेदनाओं पर या काया के षट्चक्रों पर स्वयं को सचेतन और केन्द्रित करे। चाहे जिस रूप में करे, पर काया में उतरकर वह स्वयं से ही साक्षात्कार कर रहा है। काया के बाद उसके सामने सबसे बड़ा तत्त्व 'चित्त' आ खड़ा होगा। क्योंकि वह जो भी करता है चित्त से प्रेरित होकर ही करता है। जीवन के समाधान भी चित्त से ही प्रेरित होते हैं।

व्यक्ति स्वयं ही समस्या है और समाधान भी है। अनुपश्यी साधक अपने चित्त की स्थितियों को पहचानने लगता है कि यह शांत है अथवा अशांत, विक्षिप्त है या संक्षिप्त, मोह में फँसा है या निर्मोही है, समस्याओं के मकड़जाल में उलझा है या सहज सौम्य शांत समाधान में है। वह जानने लगता है कि उसका चित्त बंधनों से घिरा है या मुक्त है, उद्वेलनों से भरा है या शांत है, सरोवर की भाँति है या सागर जैसी उत्ताल तरंगों से तरंगित है। जो साधक भलीभाँति अपने चित्त की स्थिति जानता है वह न तो कुछ ग्रहण करता है और न ही किसी को त्याग करने योग्य समझता है, जो कुछ होता है उसका साक्षी, दृष्टा होता है।

साक्षी-भाव के, दृष्टा-भाव के गहन होने से काया के प्रभाव अपने-आप शांत, विलीन होते जाते हैं और साक्षी दृष्टा काया के प्रभावों से मुक्त हो जाता है।

काया के, चित्त के गुणधर्मों से मुक्त होना सहज नहीं है। क्या क्रोध करके आज तक कोई क्रोध से मुक्त हो पाया है, भोग करके क्या कोई भोगों से मुक्त हो पाया है ? क्रोध करने से व्यक्ति मरकर चण्डकौशिक बनता है और भोगों से गुजरकर व्यक्ति ययाति बन जाता है लेकिन तब भी मुक्त नहीं हो पाता। जब व्यक्ति साक्षी-भाव को, दृष्टा-भाव को साधने लगता है तब वह धीरे-धीरे काया और चित्त के गुणधर्मों को धीरे-धीरे बारीकी से समझने लगता है। तब उसका एक ही भाव, एक ही लक्ष्य, एक ही धारणा होती है कि मैं केवल साक्षी हूँ, अपने दृष्टा-भाव को साध रहा हूँ और जान रहा हूँ कि जो उदय में आ रहा है वह काया का धर्म है, चित्त का धर्म है। वह मेरा धर्म नहीं, वह मैं नहीं हूँ। अनासक्ति चर्चाओं में नहीं सधती, प्रवचनों से, शास्त्रों को पढ़ने से नहीं सधती। अनासक्ति के फूल तब खिलते हैं जब साधक स्वयं की वस्तुस्थितियों से वाकिफ़ होता है और स्वयं को जानने लगता है। मेरा मोह किनसे और कहाँ है, कहाँ उलझा हूँ, किन चीजों से मुक्त हूँ, मैं कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, मैं कहाँ जाऊँगा, मैं जिनसे बँधा हूँ उनके बंधन क्या मेरे लिए उचित हैं, कौन-से बंधन मुझे रखने हैं और किन बंधनों का मुझे त्याग करना है। साधक ही इन चीजों का निर्णय कर सकता है। हर व्यक्ति रोज अपने नए संबंध बना रहा है। जो साधक हैं और साधना मार्ग पर चल रहे हैं उन्हें सोचना होगा कि वे किन संबंधों को बनाए रखें और किन संबंधों को त्यागें।

संबंध भी एक परिग्रह है। अगर महावीर कहते हैं कि अपरिग्रह का अंकुश हर व्यक्ति के जीवन में होना चाहिए तो हमें याद रहे कि परिचय भी एक परिग्रह है। जैसे अधिक सामान का, वस्तुओं का, धन, ज़मीन, ज़ायदाद का परिग्रह व्यक्ति की आत्मा के लिए बोझ है वैसे ही अति परिचय भी परिग्रह है, बोझ है, थकाने वाला है। इसलिए व्यक्ति किसी व्यक्ति के साथ मैत्री न साधे, किसी वस्तु के साथ मैत्री न साधे, वह विश्व-मैत्री साधे। पेरा प्रेम सबके लिए है जो सामने आ गया वे सभी मेरे प्रेम के पात्र हैं। व्यक्ति से किया गया प्रेम राग हो जाता है, मोह बन जाता है। इसलिए साधक जो चित्त के राग-द्वेष से मुक्त होना चाहता है वह व्यक्ति के राग से ऊपर उठकर विश्व-मैत्री को अपने जीवन का धर्म बनाए। विश्व-प्रेम यानी सबसे प्रेम, सबकी सेवा। ऐसा नहीं कि केवल

माता-पिता की सेवा, पति या पत्नी, बच्चों की सेवा बल्कि जिसे भी आवश्यकता है सबकी सेवा। नंदीषेण मुनि की तरह वह सबकी सेवा करेगा। मदर टेरेसा की तरह वह सबके कल्याण की प्रार्थना करेगा। अगर हम टेरेसा को माँ कहते हैं तो वह किसी व्यक्ति विशेष की माँ तो नहीं। वह तो हजारों-लाखों लोगों की माँ बन गई। उन्होंने विश्व-मैत्री को साध लिया। सबके लिए सुख शांति की प्रार्थना है, सबके कल्याण की प्रार्थना है।

‘सबसे प्रेम, सबकी सेवा’ अच्छा सिद्धांत है। मोह, विकार, द्वेष-दौर्मनस्य से ऊपर उठने के लिए यह एक दिव्य सिद्धांत है। हम अपने अन्तरमन की स्थिति समझें। हमारी बुद्धि, अहंभाव, ‘मैं’ और ‘मेरे’ का ममत्व सभी इसी चित्त से जुड़े हैं। मस्तिष्क काया का विशेष हिस्सा है, चित्त भी इसी का एक हिस्सा है, एक इलेक्ट्रीसिटी है। बुद्धि भी इसी का हिस्सा है, मन, विचार, क्रोध, भोग के भाव, उद्वेलन और शांति सभी इसमें साकार होते हैं। ध्यान करते हुए जब स्वयं को सुझाव देते हैं कि मैं अपने चित्त को शांत कर रहा हूँ,शांत कर रहा हूँ, रिलैक्स कर रहा हूँ तब हम केवल काया को ही रिलैक्स नहीं करते, काया के साथ-साथ हमारे चित्त का, बुद्धि का, मन का भी रिलैक्सेशन होता है। वे भी आराममय हो रहे हैं, वे भी तनावमुक्त हो रहे हैं। काया और चित्त या काया और मन अलग-अलग नहीं हैं। जैसे शरीर के अन्य अंग हैं वैसे ही मस्तिष्क भी काया का एक अंग है। हम सभी अपने चित्त/मन को देखें और इसमें भरी हुई विचारधाराओं से खिन्न न हों, वरन् स्वयं को समझें और धैर्यपूर्वक इसे जानने की कोशिश करें। साधक को केवल धैर्य रखना होगा तभी चित्त की अनुपश्यना की जा सकेगी, तभी काया को भीतर ही भीतर समझ सकेंगे। अधीर होने से काम न चलेगा। धैर्य, सहनशीलता ज़रूरी है। हमारी जितनी क्षमता है उससे कहीं अधिक धैर्य की आवश्यकता है।

चित्त क्या है ? बुद्ध कहते हैं- चित्त क्षणिक है, इसका दमन ही सुखदायक है। चित्त क्यों क्षणिक है ? क्योंकि यह कभी स्थिर नहीं रहता। क्षण में यहाँ और क्षण में वहाँ हो जाता है, पता भी नहीं चलता कब यह गुलांचे लगाने लगता है। यह ध्यान में बैठा-बैठा न जाने कहाँ-कहाँ चला जाता है। लोग कहते हैं कि काया क्षणभंगुर है। फिर भी चालीस-पचास साल तो टिक ही जाती है पर मन क्षण-क्षण में बदलता रहता है। इसलिए चित्त सर्वाधिक नाशवान है। इसलिए कभी इसके अनुयायी न बनें। कभी भी चित्त के प्रवाह में न बहते रहें।

यह कभी क्रोध करता है, कभी राग इसलिए इसकी बातों में न आएँ। पल में प्रेम करता है और पल में निर्मोह हो जाता है- इसका कुछ पता नहीं कि इसका कब क्या रूप होगा। यह गिरगिट की तरह है- रंग बदलता रहता है।

एक झेन कहानी है- एक गुरु के दो विद्यार्थी किसी मंदिर के बाहर बैठे थे कि एक की नज़र मंदिर के शिखर पर चली गई। उसने दूसरे से कहा- देखो, देखो झंडा हिल रहा है, मंदिर की ध्वजा डोल रही है। दूसरे ने कहा- नहीं भाई, ध्वजा नहीं हवाएँ डोल रही हैं। मंदिर का झंडा नहीं, हवाएँ हिल रही हैं, इसलिए झंडा हिल रहा है। तभी उनके गुरु आ गए। उन्होंने कहा- वत्स, न तो झंडा हिल रहा है और न ही हवा डोल रही है, सच्चाई यह है कि चित्त डोल रहा है, जो कभी यह और कभी वह कहता है।

चित्त का धर्म ही चंचलता है। इसलिए चित्त का शमन सुखदायक है, चित्त पर विजय प्राप्त करना ही सुखदायी है, चित्त को शांत करना ही मंगलमय और कल्याणकारी है। तो पहली बात हुई कि चित्त क्षणिक है। दूसरी बात यह कि चित्त का धर्म क्या है ? यह परिवर्तनशील है। यह कभी एक जैसे रूप को लिए हुए नहीं रहता। यह क्षणिक है, इसीलिए परिवर्तनशील है। जैसे प्रकृति परिवर्तनशील है कि पत्ता सदा हरा नहीं रहता, फूल सदा खिला हुआ नहीं रहता, हवाएँ सदा एक जैसी नहीं बहतीं, लहरें कभी एक समान प्रवाहशील नहीं रहतीं, उसी तरह चित्त भी परिवर्तनशील है। जिसने प्रकृति की इस परिवर्तनशीलता को समझ लिया वह जीवन में आने वाले उठापटक के प्रवाहों से निरपेक्ष रह सकेगा। तब वह जानेगा कि प्रकृति और व्यवस्थाएँ परिवर्तनशील हैं। ज़रूरी नहीं है कि जो अभी अनुकूल है वह कल भी अनुकूल रहेगी, या प्रतिकूलता में मन में गिल्टी फील नहीं होगी। हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, संयोग-वियोग, उदय-विलय सब सहजता से चलते रहते हैं।

किसी के जन्म पर साधक खुश नहीं होता और न ही मरण पर दुःखी, क्योंकि वह जानता है कि यहाँ सब परिवर्तनशील है। मृत्यु पर दुःखी मत होना क्योंकि इस जर्जर देह को कब तक ढोते रहोगे ? मरण से ही तो अगली यात्रा शुरू होगी। आगे का जीवन जीने के लिए देह की केंचुली के ममत्व का त्याग करना ही होगा। कब तक इस काया के साथ जिओगे। जिन्हें हम महापुरुष कहते हैं, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर- सभी चले गए, फिर अपन कौन से हमेशा यहाँ रहने वाले हैं। जाना तो है ही, कोई आज कोई कल। इसलिए मृत्यु का गम न

मनाओ। यह तो व्यवस्था है। जन्म और मरण दोनों ही एक व्यवस्था है। अज्ञानी/अशक्त एक में खुश होता है, एक में आँसू दुलकाता है। ज्ञानी दोनों में ही सहज रहता है।

जैसे प्रकृति परिवर्तनशील है वैसे ही मन की अवस्था है। साधक बोध रखे कि कोई टेढ़ा शब्द बोल दे तो उसे मन में लेकर न बैठे क्योंकि अगर आज उल्टा निकल गया तो कल वापस सीधा कर लेंगे। मन में लगाने से हम क्रोधित होंगे, उद्विग्न होंगे, खिन्न और दुःखी होंगे। जो जैसा करना चाहे, उसे वैसा करने की आज्ञादी दो, स्वयं को उसमें मत डालो। प्रकृति जब जो करती है तब वो करती है, किसी का हस्तक्षेप पसंद नहीं करती। इसलिए जो जैसा करता है उसे करने दो। अगर आपको लगता है कि वह ठीक नहीं कर रहा तो एक बार सावधान अवश्य कर दो उसके बाद भी वह करना चाहता है तो उसे उस पर छोड़ दो। स्वयं को बाँधो मत और न ही चित्त को उद्विग्न करो। उसके दुष्परिणामों का जिम्मेदार वह स्वयं होगा। हमें तो अपने चित्त की परिवर्तनशीलता को भलीभाँति समझते रहना है।

जब भी ध्यान करें, अनुपश्यना करें तब देखते रहें दो मिनिट पहले कुछ और भाव थे अब वे भाव नहीं हैं। चित्त बदल गया। साधना का लक्ष्य लेकर बैठे थे लेकिन अब वह साधना का भाव नहीं है, अब फिर चित्त बदल गया—यह ही तो सत्य से साक्षात्कार है, चित्त के सत्य से साक्षात्कार ! जीवन में जो कुछ है उसका भलीभाँति प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर जानना ही सत्य से साक्षात्कार है। चित्त की परिवर्तनशीलता को जानने वाला व्यक्ति इसमें उठने वाले उद्वेगों, संवेगों से प्रभावित नहीं होगा। चित्त के गुणधर्मों को पहचानकर उसके प्रभावों से मुक्त रहेगा। देह में कामभोग के भाव उठते हैं, चित्त प्रभावित होता है लेकिन उसकी अनुपश्यना करने पर वे विलीन हो जाते हैं, सदा नहीं रहते। एक घंटे तक भी नहीं। साँस भी आती है जाती है, काया में भी वेदना—संवेदना का उदय होता है, विलय होता है। ठीक इसी तरह व्यक्ति के चित्त में, तरंगें उठती हैं और गिरती भी हैं। उठना—गिरना सागर की लहरों की तरह होता है जो पल-पल बदलती रहती हैं। इसके उपरान्त भी जो साधक पुनः पुनः अनुपश्यना करता है वह अपने चित्त को शांतिमय बनाने में सफल होता है। चित्त की अनुपश्यना करने में भी सफल होता है। अपने चित्त को आनन्दमय बनाने में भी सफल होता है। यह मन जिसे अपने वश में करना कठिन होता है, फिर भी

प्रभु की तरफ लगाकर, साधारण मन और चित्त से ऊपर उठाकर असाधारण चेतना का स्वामी बनता है। दस-पन्द्रह दिन का अभ्यास भी हमें यह परिणाम दे सकता है।

बाकी, हमारा चित्त तो उस बंदर की तरह है जिसने शराब भी पी ली है। पहले ही चित्त बंदर है जिसे सुध-बुध और अक्ल नहीं है, ऊपर से किसी ने घमंड की, किसी ने मोह की, किसी ने भोग-वासना की, किसी ने ज़मीन-ज़ायदाद की शराब पी ली है और उस पर बिच्छू ने भी काट लिया है कि पति पीछे पड़ गए, पत्नी पीछे पड़ गई, बच्चे भी पीछे पड़ गए। बताइए उस बंदर की क्या हालत होगी जो अपने स्वभाव से, प्रकृति से ही बंदर है, उछल-कूद कर रहा है, ऊपर से शराब पी ली है, बिच्छू ने काट लिया है ? ऐसे चित्त रूपी बंदर को कैसे टिकाया जाए ! ऐसे बंदर को भी मदारी येन-केन-प्रकारेण ऐसे साध लेता है कि बंदर लकड़ी की छड़ी और डमरू के इशारे पर नाचने को मजबूर हो जाता है, वश में हो जाता है। ऐसे ही इस बंदर कहलाने वाले चित्त में जिसमें ढेर सारे विकार, क्रोध, कषाय, अनन्त-अनन्त काम-वासना के तंतु भरे पड़े हैं ऐसे चित्त, ऐसे मन को जहाँ जन्म-जन्मांतर के संस्कार भरे पड़े हैं, हम शांत कर सकते हैं, शिक्षित कर सकते हैं, दिव्य भाव से भर सकते हैं। हालांकि आज हमें लगता है, हम शांत हैं, बहुत शांत हैं, निर्मल हैं लेकिन कब कहाँ ज्वार-भाटा आ जाता है, ज्वालामुखी भड़क उठे कोई पता नहीं चलता। इस मन की स्थिति ऐसी ही है। इसमें कब, कहाँ, कौन से परमाणु मचलने लगेंगे पता नहीं चलता।

हम ध्यान में बैठें। अप्रमत्तभाव से बैठें, ध्यान की शांति, एकलयता, एकाग्रता लिए हुए बैठें। श्वास पर ध्यान करते रहें, गहरे श्वास लेते रहें, धीरे-धीरे श्वास, शरीर और सारी गतिविधियों को शांत करते जाएँ। भीतर-बाहर से पूर्ण मौन हो जाएँ। अन्तरमन में अधिकतम शांति को साकार करते जाएँ। भीतर में एक ही सम्यक् स्मृति रखें, एक ही धारणा रखें- मैं शांत हो रहा हूँ, मौन हो रहा हूँ, स्वानुभूति में, आत्मानुभूति में स्थिर हो रहा हूँ। हम शांति-प्रशांति को भीतर में गहरा करते जाएँ। शांति की गहराई से ही संबोधि का उदय होगा। पहले श्वासों में शांति, फिर दिमाग में, फिर धीरे-धीरे गले में शांति विस्तार करते रहें, फिर वक्षस्थल में, धीरे-धीरे उदर, नाभि-प्रदेश की ओर शांति को गहरा करते जाएँ। शांति में इस तरह डूबें मानो शांति ही भगवान हो। शांति को मित्र बनाएँ और शांत-शांत-शांत होते रहें। भीतर में केवल शांति का चैनल

चलाएँ। शांति-प्रशांति को गहरा होने दें। शांति में ही स्वानुभूति का सत्य समाहित है। शांति में ही मुक्ति का बीजांकुरण होता है। बस, हम इस भाव को, इस मनोदशा को गहरी करते जाएँ- अन्तर्द्वन्द्व से स्वतः छुटकारा मिलता जाएगा। वैर-वैमनस्य, दुःख-दौर्मनस्य का अवसान होता जाएगा। आप संबोधि की ओर बढ़ते जाएँगे। हम बस, आराम से बैठें, आराम से अपने-आप को देखते रहें, देखते रहें, डूबते जाएँ। कोई विश्लेषण न करें। हर विचार को दूर करते रहें। बस, सुख और शांतिपूर्वक देखते रहें, डूबते रहें देखते रहें, डूबते रहें स्वयं की आध्यात्मिक सच्चाइयों से रूबरू होते रहें।

श्वास से शरीर, शरीर से दिमाग, दिमाग से ज्ञान और ज्ञान से स्वयं की ओर बढ़ते रहें। ध्यान रखें सम्यक् अनुपश्यना के लिए जब बैठें तब अपनी सारी हरकतों को मौन कर दें जैसे शरीर का हिलना, देखना, बोलना और सोचना। हालांकि ध्यान या अनुपश्यना के दौरान बहुत से विचार हमारे मन में उभरते रहते हैं। जब विचार आते हैं, तो कई जाने-अनजाने प्रश्न भी उठ खड़े होते हैं। मन और चित्त को, या मन और बुद्धि को भावातीत करने के लिए हम अपनी नैसर्गिक साँसों पर ध्यान दें। विचार, सवाल उठें तो उनसे चिपक मत जाइए। पुनः प्राकृतिक साँसों पर ध्यान दीजिए। ऐसे करने से खुद-ब-खुद हमारी प्रज्ञा जागृत हो जाएगी। हम प्रकाशित होते जाएँगे। हम निर्मल स्थिति को प्राप्त करेंगे। हमें विशिष्ट शक्ति, विशिष्ट सुख, विशिष्ट शांति, विशिष्ट आनंद की अनुभूति होगी। तब हम एक अद्भुत स्वास्थ्य, शांति, ज्ञान, सौभाग्य और समझ-बूझ के धनी होंगे।

अपनी अन्तर्यात्रा के लिए अभी कुछ देर पहले एक सुंदर-सी कविता पढ़ रहा था। उसके उसके सुंदर अध्यात्म-भाव को भी भीतर उतरने दें।

रे मन हो जा कुछ पल मौन।

देख सकूँ मैं जो है जैसा, समझ सकूँ मैं कौन !

यह मन हर समय चलायमान है। दिन में दिन के सपने देखता है, रात में रात के सपने देखता है। दिन में शोखचिल्ली तो रात में ययाति बन जाता है। यह हर समय कुछ-न-कुछ करता रहता है। हाथ को तो फिर भी बाँध कर रख सकते हैं लेकिन मन को बाँधकर नहीं रख सकते। काया को स्थिर करके ध्यान में बैठ सकते हैं, पर चित्त को स्थिर करके ध्यान में नहीं बैठा जा सकता। उसे तो धीरे-धीरे साधना पड़ता है। ज्यों-ज्यों हम सत्य से साक्षात्कार करेंगे त्यों-त्यों

चित्त को भी शांत, केन्द्रित, सचेतन करने में सफल होते चले जाएँगे। ज्यों-ज्यों अनुपश्यना लगातार करते जाएँगे, त्यों-त्यों अपने चित्त की धाराओं को, काराओं को भी काटने में सफल होते जाएँगे। चित्त के कषाय, चित्त के प्रभाव, चित्त के उद्वेगों से भी मुक्त होने में सफल होते चले जाएँगे। जैसे देह से व्यक्ति देहातीत हो जाता है, विचारों से विचारातीत हो जाता है, वेदनाओं से वेदनातीत हो जाता है। वैसे ही चित्त से चित्तातीत हो जाता है, चित्त मुक्त हो जाता है।

मन भड़कीली, चंचल प्रकृति का है उसे इस गीत की पंक्तियाँ जरूर गुनगुनानी चाहिए-

रे मन हो जा कुछ पल मौन।

देख सकूँ मैं जो है जैसा, समझ सकूँ मैं कौन !

रे मन ! कुछ पलों के लिए, कुछ क्षणों के लिए शांत हो जा, ताकि मैं सुन सकूँ, देख सकूँ कि वास्तव में भीतर बैठा हुआ मैं कौन हूँ। तेरे भीतर तो तरंगें चलती रहती हैं, तू मुझे भटकाता रहता है, आइना हिलता रहता है तो मैं जान नहीं पाता कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, यहाँ से कहाँ जाना है। मैं देख नहीं पा रहा हूँ कि मुझे कौनसे संबंध बनाए रखना हैं और किन संबंधों का त्याग कर देना है। पर मैं समझ जाऊँगा बस, मन तू दो पल के लिए शांत, ठंडा हो जा। जिस तरह माता-पिता अपने बच्चे को समझाते हैं हमें भी अपने मन को समझाना होगा कि शांत। बहुत भटक लिए अब थोड़ा शांत। अब मौन। अब सचेतनता में अन्तरलीनता।

ध्यान में एक जागरूकता जरूर बनाए रखें कि गहरी साँस लें और गहरी साँस छोड़ें और इन श्वासों की अनुपश्यना करते रहें। साँसों पर सचेतन होने से काया की सचेतनता भी अपने-आप सधने लग जाएगी। चित्त भी शांत होता चला जाएगा। जैसे ही हम भटके, चित्त कहीं गया फिर वही गहरी साँस लेना, गहरी साँस छोड़ना। सचेतन प्राणायाम करें। चित्त के इधर-उधर जाते ही श्वास पर पुनः पुनः सचेतन हो जाएँ, काया की अनुपश्यना भी सतत करें। दिनों-महीनों तक- जब तक चीज़ हाथ नहीं लगती साधना, अनुपश्यना करते रहें। जितनी हमारे भीतर लगन होगी, तन्मयता होगी, बात आगे बनती चली जाएगी। इसलिए महावीर और बुद्ध कहते हैं- लगातार देखो, लगातार जागो, अपनी ओर से लगातार अनुपश्यना करते रहो।

अभी एक फिल्म आई थी- लगे रहो मुन्ना भाई- साधना के लिए भी

यह मंत्र अपना लें- लगे रहो, लगे रहो। लगन से। यह मंत्र किसी भी क्षेत्र के लिए अपनाया जा सकता है- व्यापार करना हो, राजनीति करनी हो, पढ़ाई करनी हो। सफलता के लिए एक ही मंत्र है- लगे रहो मुन्नाभाई लगन से। हमें लगना पड़ेगा। लगने से, घिसने से तो पत्थर भी गोल हो जाता है तब साधते-साधते हम स्वयं को क्यों नहीं साध सकते।

हालांकि यह सच है कि किसी पत्थर को तोड़ने के लिए हम हथौड़े चलाएँ, पहली चोट से न टूटा, दूसरी बार फिर हथौड़ा मारा, पर बेकार। तीसरी, चौथी, पाँचवीं बार भी मारा, पर आखिर दसवीं चोट में पत्थर टूटा। कहने को तो यही कहा जाएगा कि दसवीं चोट ने पत्थर तोड़ा, जबकि सच्चाई कुछ और है। हर चोट ने पत्थर तोड़ा, हर चोट ने पत्थर को कमजोर किया, दसवीं चोट ने तो परिणाम दिया। हम ध्यान के साथ इस बात को पूरी तरह लागू कर लें। इसीलिए कहते हैं-

रे मन, हो जा कुछ पल मौन।

देख सकूँ मैं जो है जैसा, समझ सकूँ मैं कौन।
 फूल देख फूला न समाता, रूप देख उसमें रम जाता।
 यह पा लूँ मैं वह मिल जाता, आपाधापी में गरमाता।
 सब कुछ हो जाता मन मण्डित, सच्चाई हो जाती खंडित
 राग-द्वेष से होकर रंजित, हो जाते हम सुख से वंचित।

जो जैसा है वैसा देखो बीच में काट-छाँट मत करो। आक्षेप, आरोपण, निरूपण मत करो। जो जैसा है उसे वैसा ही समझने का प्रयास करो। अर्थ लगाए तो कुछ-का-कुछ समझ जाओगे। इसलिए साधक बीच में बुद्धि नहीं लगाता, किसी प्रतिमा को मन में स्थापित नहीं करता। जो है जैसा है, जान रहा है।

जो जैसा है वैसा देखो, मानव को बस मानव देखो।
 नाम रूप का भेद भेदकर, हो पाए तो समता देखो।
 रे मन, तूने मुझको खूब नचाया, विषयों के पीछे दौड़ाया,
 चिंता चिंतन समय गँवाया, मैं क्या हूँ यह सोच न पाया।

किसमें समय व्यर्थ जाया किया। चिंता को व्यर्थ मानते रहे और चिंतन को सार्थक मानकर दोनों में उलझे रहे। दोनों ही व्यर्थ हैं। साधक न चिंता कर रहा है न चिंतन, वह जो जैसा है उसको वैसा ही देखता है- प्रयास नहीं। जो है

वह केवल सचेतनता है। प्रयास और अभ्यास तो पूर्व भूमिका की तरह हैं, प्रवेश द्वार की तरह हैं। लेकिन सत्य से साक्षात्कार के लिए चिंता और चिंतन से मुक्त होना आवश्यक है। चिंता चिंतन समय गँवाया, मैं क्या हूँ यह सोच न पाया।

वह पुस्तकों के आधार पर नहीं स्वयं के अनुभव से जानता है कि यह नित्य है और यह अनित्य, क्या है भोगने और त्यागने योग्य। कौनसा पथ अनुगमन करने योग्य और कौनसा त्यागने योग्य है। वह आरोपण नहीं करता, उसकी अन्तरात्मा जो देखती है वह वैसा ही करता है। साधक का कोई नियम-उपनियम नहीं होता वह सहजमार्गी होता है। भीतर से जो सहज में प्रेरणा मिलती है वह वैसा ही करता है। कारण, कार्य और परिणाम तीनों को भलीभाँति जानता है।

तूने मुझको खूब नचाया, विषयों के पीछे दौड़ाया।

चिंता चिंतन समय गँवाया, मैं क्या हूँ यह सोच न पाया।

दूसरों पर तो खूब गौर किया, लेकिन स्वयं को न देख पाए। क्या किसके लिए किया यह तो याद है, दूसरे ने हमसे क्या कुछ कह दिया ऐसी बेकार की बातों को जीवन भर ढोते रहते हैं लेकिन क्या कभी एकांत में बैठकर यह सोचा है, चिंतन किया या जानने का प्रयत्न किया कि मैं क्या हूँ, कौन हूँ, मेरी चेतना किसमें उलझी है, इस जीवन की क्या सार्थकता है, गंदगी से भरी हुई काया की किसमें धन्यता है। क्या मुझे इन्हीं भोगों में रहना है, क्रोध-कषाय करते रहना है, इसी तरह खाते-खाते जीते रहना है। हम लोग नहीं सोच पाते हैं। कोई-सा ही बड़भागी होता है, कोई-सा ही ऐसा योगी होता है, कोई-सा ही ऐसा श्रावक होता है, कोई-सा ही ऐसा संत होता है जो एकांत में बैठकर अपने बारे में सोचने का प्रयत्न और पुरुषार्थ करता है। इस काया में जो जीते-मरते हैं क्या वही मैं हूँ या इसके अलावा भी मेरा कोई स्वरूप है, मेरा कोई अस्तित्व है ?

हमारी स्थिति उस गधे जैसी है जो घर से घाट और घाट से घर के बीच में डोलता रहता है। कभी बीच में समझ आ जाती है, तो व्रत, उपवास, नियम कर लेते हैं लेकिन फिर वहीं के वहीं। कभी कुछ सुनते रहे, कभी कुछ सुनाते रहे-घाणी के बैल की तरह वहीं चक्कर लगाते रहते हैं, जी रहे हैं, चल रहे हैं। क्योंकि मरे नहीं है, अटके या रुके नहीं हैं।

अब तक तूने राज किया है

रे मन तू अभी तक अपने मन की करता रहा, लेकिन अब मैं समझ गया हूँ, संभल गया हूँ-

अब तक तूने राज किया है, अनुचर मुझको बना दिया है।

अब मैं तुझ पर राज करूँगा, यह मैंने संकल्प लिया है।

रे मन, हो जा कुछ पल मौन।

देख सकूँ मैं जो है जैसा, समझ सकूँ मैं कौन !

हे मेरे मानव-मन, अब तू थोड़ा शांत हो, थोड़ा धीरज धर, सहनशीलता से आतापी बनकर अपना और खुद को देखने का प्रयत्न कर कि 'मैं' कौन हूँ !

अभी तो हमारा धर्म वह है जो हमें धर्म की किताबें बताती हैं। फिर हमारा धर्म वह होगा जो हमें हमारी अन्तरात्मा प्रेरणा देगी। सच्चा धर्म, सच्चे प्रभु बातों में नहीं होते, प्रार्थनाओं के पाठों में नहीं होते। भीतर की प्रत्यक्ष अनुभूति में प्रभु का निवास होता है। अभी तो हमारे हाथ में न आत्मा है और न परमात्मा। अभी तो काया, काया की वेदनाएँ, श्वास या हमारा चित्त, हमारा अन्तरमन, उसमें उठने वाली तरंगें, उसमें स्थित यादें या हमारे भीतर उठने वाले संस्कार, क्रोध, कामनाएँ, इच्छाएँ, तृष्णाएँ यही सब हमारी अनुभूति में आते हैं। हम सभी अनुभव में आने वाली इन सभी चीजों के मर्म को समझें और बारीकी के साथ अनुपश्यना करने का भगीरथ प्रयास करें।

जब चित्त के उठा-पटक शांत हो जाएँगे, काया के प्रभाव और दुष्प्रभाव से मुक्त हो जाएँगे, तब हमारे सामने जो अध्यात्म के द्वार खुलेंगे, चेतना का जो प्रकाश होगा, अन्तरात्मा का जो कमल खिलेगा, अनासक्ति का जो फूल खिलेगा, बुद्धत्व का जो प्रकाश और आलोक उदय होगा वह अनिर्वचनीय होगा। 'अप्प दीवो भव'। अपने दीप स्वयं बनो।

आप सभी इस अद्भुत-विलक्षण आनन्द की, अपूर्वकरण की दशा को उपलब्ध हों, इसी मंगल-भावना के साथ आपकी निरन्तर उज्ज्वल हो रही अन्तर-दशा को नमस्कार !





पूज्य श्री चन्द्रप्रभ ने सत्य के साक्षात्कार से नज़रें मिलाई हैं और बुद्धत्व के कमल का अपने भीतर आनन्द लिया है। वे उस आनन्द को साधकों के साथ बाँटते हैं। संबोधि-साधना-शिविर में साधकों से मुख़ातिब होते हुए उन्होंने भगवान बुद्ध की विशिष्ट साधना-पद्धति 'विपश्यना' पर कुछ आध्यात्मिक संवाद किए हैं। ये संवाद प्रस्तुत पुस्तक में बहुत ही आत्मीय ढंग से व्यक्त किए गए हैं। इनमें अवगाहन करते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो हम शिविर के ही एक अंग हैं। एक-एक शब्द अनुभव से निःसृत होता हुआ हमारे भीतर उतरता है। इन संवादों को पाकर आप निश्चय ही धन्य और आनंदविभोर हो उठेंगे। इस पुस्तक का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक विचार अपने-आप में विलक्षण एवं अद्भुत है। आप पुस्तक के हर शब्द के साथ लहरों की तरह बहते जाएँ, आपकी जीवन-नौका अपने-आप पार लगती जाएगी।

The
विपश्यना